सत्यं परं धीमहि

ऋतम्भरा

हिन्दी त्रैमासिक

(अनुसन्धानात्मक पत्रिका)

अङ्क १ — वसन्त पञ्चमी — माघ शुक्ल, पंचमी, सं० २०२७ वि०, रविवार, जनवरी-मार्च—१९७१ — वर्ष १

भाटपाररानी, देवरिया (भारत)

मदन मोहन मालवीय शिक्षा-संस्थान

भाटपार रानी, देवरिया

उत्तर प्रदेश (भारत)

परामर्शदात्री परिषद्

१. माननीय आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी।
२. " आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी, वाराणसी।
३. " श्री डॉ० राजवली पांडेय, कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।
४. " आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाराणसी।
५. " श्री बालकृष्ण राव, कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
६. " श्री सुरति नारायण मणि त्रिपाठी, गोरखपुर।
७. " आचार्य श्री रामानन्द शास्त्री "आनन्द" श्री रामानन्द भक्तियोगाश्रम, सीवान (विहार)
८. " आचार्य श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, वाराणसी।
९. " श्री पं० वासुदेव द्विवेदी शास्त्रीं, वाराणसी।
१०. " श्री लक्ष्मी शंकर व्यास, वरिष्ठ सम्पादक 'आज' वाराणसी।
११. " डॉ० श्री विश्वम्भर शरण पाठक, गोरखपुर विंश्वविद्याबय गोरखपुर।
१२. " डॉ० श्री हरिवंशलाल शर्मा, अलीगढ़।
१३. " डॉ० श्री गोपीनाथ तिवारी, गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर।
१४. " श्री के० लक्ष्मणशास्त्री (आन्ध्र)।

● संस्थापक, संरक्षक, सम्पादक— श्री केशव चन्द्र मिश्र
प्राचार्य
मदन मोहन मालवीय डिग्री कॉलेज,
भाटपाररानी (देवरिया)

● सम्पादक— श्री रामायण उपाध्याय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
मदन मोहन मालवीय डिग्री कालेज

● प्रबन्ध सम्पादक श्री पारसनाथ पाण्डेय
प्राध्यापक, राजनीति-विभाग
मदन मोहन मालवीय डिग्री कालेज,

मूल्य (डाकव्यय छोड़कर)

वार्षिक १० रुपये अर्द्ध वार्षिक ६ रुपये त्रैमासिक ३ रुपये

सुदर्शन मुद्रक, ६३/४२, उत्तर बेनिया वाग, वाराणसी। फोन : ६५७१८

सत्यं परं धीमहि

ऋतम्भरा

हिन्दी त्रैमासिक

(अनुसन्धानात्मक पत्रिका)

अङ्क १	वसन्त पञ्चमी माघ शुक्ल, पंचमी, सं० २०२७ वि०, रविवार, जनवरी–मार्च—१९७१	वर्ष १

मदन मोहन मालवीय शिक्षा-संस्थान

भाटपार रानी, देवरिया

उत्तर प्रदेश (भारत)

लेख-सूची

सम्पादकीय

पुरातनता में असाधारण रूप से समृद्ध भारत भूमि के अपार चिंतन और ज्ञान की राशि यहाँ के सहस्रशः ग्रंथों में आज भी अनुद्घाटित पड़ी है। इस क्षेत्र में जो भी प्रयास भूमण्डल के विद्वानों और देश के जिज्ञासु पण्डितों द्वारा हुए हैं, वे कार्य की अपरिमित व्याप्ति को देखते हुए अत्यन्त अल्प हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहस्रों समर्थ विद्वान अन्वेषण में लगे हैं और शतशः ने अपने श्रमसीकरों से इसका उद्धार कर आज जगत् के लिए बहुत कुछ सुलभ कर दिया है फिर भी इसके लिए लक्ष्याधिक विद्वानों की अप्रतिम मेधा और अबतक कार्यरत संस्थाओं के अतिरिक्त अनेकशः गहन अध्ययनरत नूतन संस्थाओं की आवश्यकता है। गवेषणा-व्रती सैकड़ों और भी पत्र-पत्रिकाओं के व्यवस्थित संचालन की आवश्यकता है। राजकीय एवं सार्वजनिक नियमों के द्वारा समस्त परिपोषण प्राप्त कर विश्वकल्याणकारी ज्ञान-राशि को सर्वसुलभ करने के इस यशस्वी कार्य को शक्ति-सम्पन्न करना किसे अभीष्ट नहीं है? परन्तु इस दिशा में हो रहे स्वल्प प्रयत्नों से आज भारी निराशा हो रही है।

निश्चय ही भारतीयों की इस कार्य में यह वर्तमान दशा उनकी सहज स्थिति का परिचायिका है क्योंकि परिपूर्ण हुआ भी प्राकृत मनुष्य अधिक की इच्छा करता है। उसकी वृत्ति अगाध जलनिधि की सी होती है, जो अपार जल रखकर भी जल के लिए लालायित रहता है। हमारी इस सुषुप्ति ने ही ज्ञान की दौड़ में सम्प्रति हमें दूसरों का परमुखापेक्षी बनाकर छोड़ा है।

भारतीय ज्ञान-प्रणाली वेद-मूलक रही है। उसके मूल से विच्छिन्न हो जाने से हमारे समस्त चिंतन या तो सूखते जा रहे हैं या नितान्त पराश्रित हो, यहाँ के लिए अपरिचित और अमंगलदायक बनते जाने का भय उत्पन्न हो गया है। यह सौभाग्य की बात है कि अपने अतीत में जाग्रत और सुषुप्त दोनों अवस्थाओं में भारतीयों ने सदा संस्कृति-मय जीवन व्यतीत कर उसको समृद्ध किया। अतः अनुसंधान के आज के सभी प्रयत्नों का लक्ष्य उसके तात्पर्य और जीवन प्रवाह को अनावृत करना है ताकि हमारा न केवल सजीव संबंध उससे बना रहे, बल्कि वह वर्तमान की स्वरूप-रचना में क्रियात्मक आधार बन सके। ऐसा निश्चय जैसे वैदिक शोध का ही अनुष्ठान है।

इस दिशा में पश्चिमी विद्वानों के सहयोग से जो प्रयत्न हुए हैं, वे सदा लाभकारी ही नहीं रहे हैं। कहीं-कहीं वास्तविकता और सत्य के उद्घाटन होने की जगह गहरी उलझनें, हेतुवादी परिणाम तथा असाधारण विडम्बनाओं ने परिणामों को आच्छादित कर लिया है। अतएव भारत के नव-निर्माण में यही कम महत्त्व की बात नहीं है कि हम उसके वास्तविक अतीत को आज उपस्थित करें। फिर उसको जीवन के सभी क्षेत्रों में वर्तमान के चिन्तन का अजस्र उद्गम बनाना, एक दूसरा महान कार्य है। जीवन की शाश्वत व्याख्याएं जो वहाँ की गई है, उनमें आज की अद्यतन समस्याओं का समाधान भी है, और ऊर्ध्वगामी तथा गतिशील जीवन के लिए आलोक भी है।

इन पवित्र और सर्वमान्य उद्देश्यों के लिये, जहाँ यह आवश्यक है कि भूत की घटनाओं, राजनीतिक मान्यताओं तथा दर्शन, कला, उद्योग, विज्ञान और मानविकी ज्ञान-सम्पदाओं का विवरण तैयार किया जाय, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उनमें निहित उद्भावनाओं, युग प्रवृत्तियाँ तथा आस्थाओं का भी अन्तवरण हो और आज के लिए मूल्यांकन किया जाय।

अपार संस्कृत वाङ्मय जो सहस्रों वर्षों तक साहित्य, संस्कृति, विज्ञान और लोकनीति का आधार रहा है, वह आज भी हमारे शोध-प्रयत्नों की ओर अपलक नेत्रों से देख रहा है। युगों की उस अगाध गहराई में जीवन के समस्त उपयोगी ज्ञान के लिये की गई भारतीयों की अद्वितीय रचनात्मक प्रतिभा के मणिमाणिक्य अप्रतिम दीप्ति से जगमगा रहे हैं। यदि यह सही है कि ज्ञान की एकता को उसी प्रकार चाह कर भी मनुष्य अस्वीकार नहीं कर सकता, जिस प्रकार जीव के विकास-क्रम को, तो भारत के अतीत को भी वर्तमान के योगक्षेत्र के लिये ठीक-ठीक उपस्थित करना पड़ेगा।

प्रातःस्मरणीय महामना मालवीय जी की यही उद्दाम लालसा थी। दुखः है कि वह आज सुसंगठित प्रयत्नों का आधार नहीं प्राप्त कर सकी। उसी शुभ्र दिशा में 'ऋतम्भरा' की यह आलोक-मय यात्रा है। इसके लिये शोध की वर्तमान प्रक्रिया विशेषतया यूरोपीय प्रक्रिया में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि यह प्रक्रिया सत्यान्वेषण में दुर्बल है। उसका लक्ष्य भी सामान्य तथा उपाधियों तक आकर ठहर गया है। उसका स्वरूप विश्व के लिए भी स्पृहणीय बनाया जाना समीचीन है।

शोध में जब तक यह मंगलाशा नहीं रहेगी कि भूत वर्तमान से जीवित रूप में सुसम्बद्ध हैं, उसकी कथा और जीवन-प्रवाह सनातन और अमरत्त्व का प्रसाद हैं, घटनाएँ नहीं उनके मर्म की चिन्तनता युग के लिए सौरभ है, तबतक शोध निस्तेज और परिपाटीमूलक ही रह जायगा। जिसे शोध की वैज्ञानिक प्रणाली कहा जाता है, वह भी अतीत के धुंध को चीर कर तब तक शुभ्र सत्य तक नहीं पहुँच सकेगा। इस प्रकार के शोध के लिए तटस्थ विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक प्रक्रिया ही अभीप्सित परिचय दे सकेगी और परम्पराओं का रहस्योद्घाटन हो सकेगा।

महामना के इस गुरु गंभीर कार्य को लेकर अपने दुर्बल साधनों के बीच वीणापाणि की जयंती के कार्यप्रेरक मुहुर्त में सत्संकल्पों के पाथेय के सहारे यह संस्थान चल पड़ा है। साधनों की अकिंचनता का भय नहीं है। भरोसा है सतत श्रम और कर्म अभ्यास का, जैसा कि महर्षि वशिष्ठ ने अभयता देते हुए कहा है। इसीलिए इस शुभ उद्यम में हम लोग अग्रसर हो रहे हैं—

सर्वातिशयसाफल्यात् सर्वं सर्वत्र सर्वदा।
संभवत्येव तस्मात्त्वं शुभोद्योगो न संत्यज ॥

'ऋतम्भरा' के शोध-सम्बन्धी शुभोद्योग के इस पुनीत संकल्प को अपने महत् एवं पूज्य पुरुषों का आशीर्वचन, विद्वानों का आश्वासन, मित्रों की शुभ कामना और जिज्ञासुओं का आमंत्रण प्राप्त हुआ है।

इस पत्रिका का यह आकस्मिक लघु रूप विकासमान एवं वर्धमान है। इस कार्य का विस्तार और इसके लक्ष्य का स्वरूप क्रमशः प्रस्तुत होता जायगा। इसके लिए उन सभी सुधीजनों के प्रति यह संस्थान हृदय से सदा आभारी रहेगा, जिन्होंने इसमें भिन्न-भिन्न रूपों में योग देने की अनुकम्पा दर्शाई है।

निवेदन

मर्मज्ञों एवं विद्वान् लेखकों से निवेदन है कि वे अपने शोध, अनुसंधान एवं रचनाओं से इस महत् कार्य को परिपुष्ट करने की कृपा करें। 'ऋतम्भरा' में प्राचीन विषयों पर अनुसंधानात्मक रचनाएँ तो सम्मिलित ही होंगी, ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों पर मौलिक स्थापनाओं का भी समादर होगा। हमारा यह भी उद्देश्य है कि अर्वाचीन समस्त मौलिक चिन्तन ज्ञान के समातन प्रवाह का अंग बनकर अवतरित हो। आप अपने सत्परामर्शों से भी हमें उपकृत करेंगे।

सहृदय पाठक समुदाय से यह निवेदन है कि वे अपने विचारों एवं सम्मतियों को भी प्रेषित कर हमें इस कार्य को परिपुष्ट करने में सहयोगी बनें।

शुभ कामनायें

डा० राजबली पांडेय

कुलपति—जबलपुर विश्वविद्यालय

'ऋतम्भरा' अपने नाम को सार्थक करती रहे, यही कामना है। सत्य दार्शनिक प्रतीति है। विश्व की प्रक्रिया में आकर वह ऋत बन जाता है। यही नैतिकता का आधार है। 'ऋतम्भरा' इस प्रक्रिया को गतिशील रखेगी, ऐसा विश्वास है।

—राजबली पाण्डेय

डा० गोपीनाथ तिवारी

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

यह पढ़कर प्रसन्नता हुई कि आप वसन्त पंचमी से त्रैमासिक शोधालोचना पत्रिका ऋतम्भरा का प्रकाशन प्रारंभ करने जा रहे हैं। मैं इस सत्प्रयास की प्रशंसा करता हुआ इसकी सफलता की हार्दिक कामना करता हूँ। इस सम्बन्ध में जो भी सेवा मुझसे अपेक्षित होगी, मैं करूँगा।

—गोपीनाथ तिवारी

आचार्य रामानन्द शास्त्री

आनन्द नगर, सिवान, सारन

मैं आपके इस श्रेष्ठ कार्य की सफलता के लिये प्रभु से प्रार्थी हूँ।

—आनन्द

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

स्वस्तिक प्रकाशन, गुरुधाम, वाराणसी

'ऋतम्भरा' शोध और सिद्धान्त की ठोस सामग्री देने में सफल हो। उध्वस्त भारतीयता की स्थापना और रक्षा में सहायक हो। प्रभुसे मेरी यही कामना है। महामना का देशी मन और उन्हीं के साँचे में ढला आपका, आपके हम सब स्वजनों का मन 'ऋतम्भरा' के माध्यम से सांस्कृतिक दिग्विजय करेगा।

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

पं० सीताराम चतुर्वेदी

वाराणसी

इस पत्रिका में ऐसे ही निवन्ध अधिक हों जो धर्म, समाज, संस्कृति और साहित्य-सम्बन्धी नई गवेषणाओं, सिद्धान्तों और विचारों का प्रतिनिधित्व कर सकें। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले सामान्य लेखों से उसे बचाए रखना चाहिए क्योंकि इधर जो अनेक त्रैमासिक पत्रिकाएँ निकल रही हैं उनका स्तर बहुत गिर गया है।

श्री बालकृष्ण राव

कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय

मदन मोहन मालवीय शिक्षा-संस्थान के तत्वावधान में इस वर्ष 'वसन्त पंचमी' से 'ऋतम्भरा' नाम की अनुसंधानात्मक हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होने जा रही है, यह बड़े हर्ष की बात है। मैं यथाशक्य परामर्श आदि के लिये प्रस्तुत रहूँगा। मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

—बालकृष्ण राव

ब्रह्म उपासना

आचार्य श्री रामानन्द शास्त्री "आनन्द"

इस ब्रह्माण्ड के स्वामी का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म उस व्यापक स्वामी का नाम है जिससे बड़ा कोई नहीं है, जिससे कोई जगह खाली नहीं है। वस्तुतः उसमें कोई गुण नहीं है। उसका रूप भी कोई नहीं है। ब्रह्माण्ड के भीतर हम हैं। इसलिए वह हमारा भी अर्थात् हमारे मन शरीर आदि का भी स्वामी है। आप यह पूछ सकते हैं कि जब उसमें कोई गुण ही नहीं है तो वह स्वामी कैसे हो सकता है? फिर उसका रूप ही नहीं कोई, तो उसके अस्तित्व (Existence) में प्रमाण ही क्या है? किसी वस्तु को समझने के लिए तथा अपने मन के संतोष के लिए गुण का आरोप तथा मनोऽनुकूल भावात्मक रूप का चिन्तन अनुचित नहीं है। इन्हीं दोनों के सहारे उस व्यापक (ब्रह्म) का बोध प्राप्त किया जाता है। सच पूछा जाय तो वह अनन्त (Infinite) है। जो अनन्त हैं, सभी सान्त चीजें उन्हीं की हैं। जिनसे कोई जगह खाली नहीं है वह रूप और गुण-रहित भी कैसे हो सकते हैं।

प्रश्न—क्या व्यापक होना एक प्रकार से गुणी होना नहीं है? निर्गुण ब्रह्म में व्यापक गुण का आरोप उचित क्यों कर हो सकता है?

उत्तर—यद्यपि यह एक उनका गुण है फिर भी यह अनन्त है। जैसे गुण से गुणी को पहचाना जाता है वैसे ही गुण से निर्गुण का बोध होता है। बाद, स्वतः मौलिकता का ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न—उपासना शब्द का क्या अर्थ होता है?

उत्तर—निकट में बैठना।

प्रश्न—ब्रह्म का कोई रूप ही नहीं है, तब फिर भला, उसका एक जगह रहना कैसे संभव है? बिना उसके एक जगह रहे उसके निकट बैठना तो अत्यन्त ही असम्भव है।

उत्तर—जो सब जगह है—शून्यवत् सर्वत्र व्याप्त है उसका चिन्तन किसी एक जगह करने से अथवा समय और सुविधानुसार कहीं भी करने से उपासना (निकट में बैठना) पूर्ण संभव है तथा व्यावहारिक है।

प्रश्न—सरूप से अरूप के पाने की बात और निकट से समझाई जाय ?

उत्तर—एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—"गुरुदेव, रूप से अरूप को, गुण से गुणी को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?" गुरुदेव ने उत्तर दिया—"देखो, सामने जो वह बरगद का पेड़ दिखाई पड़ता है उसका एक अखण्ड फल ले आओ।"

शिष्य ने वैसा ही किया। उसने उक्त फल को अपने हाथ में रखकर गुरु को दिखलाया। गुरु ने उसके टुकड़े करने को कहा। शिष्य ने उसे खण्डित किया।

गुरु ने कहा—"इस टुकड़े का एक बीज हाथ में ले लो।" शिष्य ने वैसा ही किया। पुनः गुरु ने शिष्य से पूछा—"यह बीज रूपवान् है या रूपरहित ?"

शिष्य ने उत्तर दिया—"रूपवान् हैं गुरु महाराज !"

गुरु ने फिर कहा—"इस बीज को फोड़ दो।" शिष्य ने—वैसा ही किया।

गुरु ने कहा—"इसके भीतर क्या देखा ?"

शिष्य—"कुछ नहीं गुरुदेव !"

गुरु—"तुम यह जानते हो कि इस बीज को धरती में गाड़ देने पर क्या होता है ?"

शिष्य—"धरती में बो देने से इससे एक पौधा उगकर समय से बट का विशाल वृक्ष होगा। ठीक वैसे ही या बहुत कुछ वैसे ही जिस वृक्ष का यह फल है तथा उसका यह बीज है।

गुरु—"वत्स, इस बीज के भीतर कुछ नहीं मिला तो उस शून्य से विशाल वट वृक्ष कैसे पैदा हो सकता है ?"

शिष्य—"व्यवहार से तो ऐसा ही देखा जाता है।"

गुरु—"इसका यह मतलब हुआ कि अरूप अर्थात् शून्य भी रूपवान का उत्पादक है ?"

शिष्य—"जी हाँ ! और यह भी मतलब निकला कि रूपवान के सहारे अर्थात् साकार के द्वारा अरूप, रूप रहित, निराकार को प्राप्त किया जाता है।"

गुरु—"साधुवाद ! आपने इस प्रकरण के एक विषय को ठीक से समझ लिया।"

शिष्य—"दूसरा कौन विषय है गुरु महाराज ?"

गुरु—"गुण से गुणरहित को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? आप को, इसे भी, हमें ठीक से समझाना है।"

शिष्य—"इसे भी ठीक से समझा दिया जाय।"

गुरु—"देखो, एक सूखा तिनका उठाओ। उसे थोड़ा ऊँचा उठाकर छोड़ दो।"

शिष्य ने वैसा ही किया।

गुरु—"यह तिनका किधर की ओर गया ?"

शिष्य—"पूरब की ओर गया गुरु महाराज !"

गुरु—"ऐसा क्यों हुआ इसे समझते हो ?"

शिष्य—"पश्चिम की ओर से आनेवाली हवा ने इसे पूरब की ओर उड़ा दिया है गुरु महाराज ।"

गुरु—"उड़ाना हवा का गुण है या नहीं ?"

शिष्य—"गुण नहीं है गुरु महाराज । कर्म है ।"

गुरु—"कर्म भी तो एक प्रकार का पदार्थ ही है । उस पदार्थ से ही रूप रहित भी वायु का बोध प्राप्त कर लिया जाता है । दर्शन की भाषा छोड़ दी जाय तो व्यावहारिक भाषा में यह भी कहा जा सकता है कि तिनके को फेंकना रूपी गुण से उक्त गुण रहित (वस्तुतः कर्मसहित) तथा रूप रहित वायु का बोध हो जाता है । इसको यों समझा जाय कि फेंकना रूपी गुण के न रहने पर भी आरोपित गुण से वायु को गुणवान् माना जाता है । वैसे ही रूपरहित वायु को स्पर्श से पहचाना जाता है । जब देह में हवा लगती है तब हम हवा के स्पर्श से ही ऋतु के अनुसार गर्मी या सिहरन का अनुभव करते हुए वायु का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । वस्तुतः इसे वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा नहीं; शारीरिक स्थूल अनुभव द्वारा ही समझ सकोगे ।"

शिष्य—"गुरु महाराज ! अभी तक वट बीज, तथा वायु के उदाहरणों से मैंने तीन बातें समझीं ।"

(क) ब्रह्म, गुण-रहित तथा रूप-रहित है—निर्गुण निराकार ब्रह्म ।

(ख) रूप-रहित—सगुण निराकार ईश्वर (ब्रह्म) ।

(ग) सगुण साकार—गुण सहित, रूप सहित प्रभु (ब्रह्म) ।"

गुरु—"तुमने ठीक समझा है । इसे और स्पष्ट कर देता हूँ । देखो वट के बीज के भीतर वर्त्तमान जो शून्य है वही निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रतीक है, ऐसा जानो । उस शून्य का बाहरी आवरण बीज के टुकड़े सगुण साकार ब्रह्म के प्रतीक हैं । वस्तुतः गुण रहित अथवा वस्तुतः गुण सहित वायु सगुण निराकार ब्रह्म का प्रतीक है ।"

शिष्य—"समझ तो गया गुरु महाराज ! किन्तु, इस प्रकरण में आप किसके बारे में सिखलायें समझायेंगे ?"

गुरु—"निर्गुण निराकार ब्रह्म के विषय में ।"

शिष्य—"उस ब्रह्म की उपासना कैसे की जाय ?"

गुरु—सभी प्राणियों में ब्रह्म ही व्याप्त हैं उनकी रक्षा, पूजा उचित सम्मान, सेवा आदि करना तथा अपने भीतर अहंकार आदि से भी शून्य होकर उसी व्यापक ब्रह्म से "स्व" का अभिन्न भाव बनाये रखना, श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक बनाये रखना, परम कर्त्तव्य है । ब्रह्मबोध हो जाने पर तो ऐसा भाव स्वतः बना रहता है ।

प्रश्न—किसी एक ऐसे साधक की बात बतलाई जाय जो निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ब्रह्मविद् हो गए हों ?

उत्तर—मेरे गुरु महाराज के पास एक ऐसे साधु पहुँचे थे जो कभी होश में रहते थे, कभी बेहोश। उनका नाम था रविशंकर तीर्थ। जहाँ तक मुझे स्मरण है उनके निकटवर्ती अंगरक्षक ने उनकी जन्मभूमि दक्षिण-पश्चिम भारत में बतलाई थी। उनकी जाति का ठीक पता न चला; क्योंकि बाबाजी साधक मात्र को एक जाति के मानते थे। उन्हें न स्वयं कभी शरीर का भान रहता था और न कभी नाम का स्मरण। जिस क्षण वह होश में हुए थे उन्होंने वार्त्तालाप के क्रम में जो बातें बतलाईं थीं उन्हें इस प्रसंग में उद्धृत कर रहा हूँ।

प्रश्न—वह बाबाजी के पास कैसे आये थे ?

उत्तर—उनका न कोई देश था, न व्यक्ति-विशेष में राग; वह केवल जाने-अनजाने भ्रमण में ही रहा करते थे।

प्रश्न—उनकी जीविका कैसे चलती थी ?

उत्तर—ऐसे लोगों को अपनी जीविका की चिन्ता नहीं रहा करती। यदि वे एक तरह से संसार में किसी को अपना नहीं मानते तो दूसरी तरफ संसार का प्रत्येक व्यक्ति उनका अपना रहता है।

प्रश्न—हाँ तो यह बतलाया जाय कि उनकी जवानी उनकी ही उपासना की क्या प्रणाली (Method) थी।

उत्तर—उन्होंने कहा था, वह लड़कपन में एकान्त में ही बैठा करते थे तथा शिक्षाकाल में एकान्त ही में रहना पसन्द करते थे। मनुष्य ही नहीं, सृष्टि का प्रत्येक प्राणी उन्हें प्रिय लगता था। नदी-पहाड़, खेत खलिहान, मेघ-आकाश गर्मी-वर्षा, चमन-वीरान; सब ही भले लगते थे। वह किसी से झगड़ा नहीं करना चाहते—झगड़ालु से सम्पर्क नहीं रखते हुए भी उसे अपनाते रहने में कोई कोर-कसर नहीं रखते थे। झगड़ालु और दुष्ट व्यक्तियों को भी, आपत्ति पड़ने पर, शारीरिक तथा आर्थिक साहाय्य-प्रदान करते रहते थे। उन्हें अपने मान-अपमान का ख्याल नहीं था।

प्रश्न—प्रारंभ में देवी-देवताओं के प्रति उनकी कैसी आस्था थी ?

उत्तर—उनका कहना था कि लड़कपन में वह श्री हनुमान जी को बहुत मानते थे। रामायण का पढ़ना, सुनना और रामचरित उन्हें बहुत अच्छे लगते थे। अकस्मात-प्राप्त श्रीमद्भागवद् गीता के कुछ पन्नों के लेकर उन्होंने पाठ किया था। सूर्य को ग्रह भी मानते हुए उनके भीतर रहने वाले तैजस् को वह हृदय से सम्मान देते थे। सत्य-नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु किंवा लक्ष्मी की बहुत प्रतिष्ठा करते थे। उनका भावनात्मक चरणोदक पान करते थे। श्री गणेशजी तथा शेष शिवपरिवार के साथ भगवान शिव की प्रतिष्ठित मूर्ति की पुष्पादिक से पूजा भी करते थे। उनके परिवार के एक वृद्ध व्यक्ति उनके सम्मान-पात्र थे। उन्हीं की सेवा-सुश्रूषा सबसे अधिक करते थे। उन्हीं के निर्देशानुसार बहुत दिनो तक दुर्गा-सप्तशती का पाठ भी करते रहे।

प्रश्न—तब तो उनकी उपासना का कोई एक क्रम नहीं रहा ?

उत्तर—वह इन सारे कार्य-क्रमों को उपासना नहीं मानते थे। इन्हें वह एक शुद्ध सात्त्विक मनोरंजन कहा करते थे।

प्रश्न—फिर उनकी उपासना का क्रम क्या था ?

उत्तर—बिछावन से उठते ही प्रातः काल वह बड़े ही हार्दिक स्वर में नीचे लिखे श्लोक को पढ़ते थे जिसके चिंतन-अनुचिंतन में घण्टों डूबा रहा करते थे। वह श्लोक है:—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म - समाधिना॥

प्रश्न—और उनकी उपासना के कौन से क्रम थे ?

उत्तर—वह कहते थे कि जब से मैंने होश संभाला है तभी से मैं अपने को देख नहीं पाता था। मेरे कार्य सभी होते रहते थे; किन्तु दूसरों को मैं दृश्य मालूम होता था।

प्रश्न—यह तो उन जैसे व्यक्तियों की बात हुई। हम लोग ब्रह्मविद् होने के लिए क्या करें ?

उत्तर—पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक के आखिरी भाग तक शून्यता का भाव बढ़ाते रहना अदृश्यानुभूति का श्रेष्ठ साधन है।

श्री तीर्थ जी के ही शब्दों में उनके एक शिष्य निम्नलिखित क्रम से अभ्यास करते थे। जलाशय मिलने पर जलाशय के किनारे, यों ही एकान्त में अथवा जनसम्पर्क में आँखें मूँद कर वह भावना द्वारा पैर के अंगूठे को देखते हुए सोचते कि यह भाग शून्यरूप हो गया फिर अंगुलियों को। बाद चरणपृष्ठ और चरणतल को। इसी तरह क्रमशः शिखापर्यन्त वह शून्यभाव को बढ़ाते चलते थे। यों ही नदियों को देखकर आँखें बन्दकर बाद में खुली आँखों से भी शून्यता का अनुभव करते थे। ऊँची जमीन, पहाड़ों, हरे-भरे खेतों, घरों, पशुओं, पक्षियों आदि के बारे में भी उनका ऐसा ही भावात्मक अभ्यास चलता था।

प्रश्न—इससे इस साधन का क्या परिणाम (Result) हुआ ?

उत्तर—स्वयं तीर्थजी के ही समान उनके सिखलाये गए वह अभ्यासी भी दूसरों के लिए दृश्य तथा अपने लिए अपने को अदृश्य अनुभूत किया करते थे।

प्रश्न—उनसे संसार के काम कैसे होते थे ?

उत्तर—जैसे सबसे काम होते हैं वैसे उनसे भी होते थे। सबमें ब्रह्म का भाव भावित होने के कारण कर्म और कर्म फलों में शून्यता का ही उनका भाव बना रहता था। ऐसे ही लोग तो सृष्टि के संचालन में अपने लीला-विग्रह की सार्थकता का प्रसार कर मानव-मात्र का कल्याण करते हैं।

प्रश्न—क्या तीर्थ जी सोने के समय में भी कोई साधना करते थे ?

उत्तर—जी हाँ, वह सोने के समय में शिखा यानी मस्तक के अन्त से पैर के अँगूठे किंवा नखाग्र तक प्रेम और आनन्द का भाव भरे पाते थे। उन्हें अनुभूत होता था कि वह सर्वत: और सर्वथा प्रेम एवं आनन्द से परिपूर्ण हैं।

प्रश्न—हम लोग इसका कैसे अभ्यास करें ?

उत्तर—हमें भी भावना द्वारा ऊपर से नीचे की ओर एवं नीचे से ऊपर की ओर प्रेम तथा आनन्द की लहरों (Waves) के आरोहण-अवरोहण अनुभूत करने चाहिए। अर्थात् इनके जो Ascent और Descent होते रहते हैं इन्हें स्मृति पथ पर उतारते रहना चाहिये। कुछ दिनों तक ऐसा अभ्यास करने पर आदरणीय तीर्थ जी के ही समान स्वत: प्रेमानन्द की लहरें आरोहित अवरोहित होने लगती हैं।

प्रश्न—इस तरह हमें ब्रह्मानुभूति में एवं साधनाभ्यास में संक्षेपत: क्या-क्या करने चाहिए ?

उत्तर—(१) सभी प्राणियों की रक्षा, पूजा, उचित सम्मान, सेवा आदि करना तथा अपने भीतर अहंकार आदि से भी शून्य होकर उसी व्यापक ब्रह्म से "स्व" का अभिन्न भाव, श्रद्धा विश्वास पूर्वक, बनाये रखना परम कर्त्तव्य है।

(२) सभी प्रकार की पूजा, जप तथा मूर्त्ति आदि के ध्यान को सात्त्विक लीला समझते रहना। उन क्रियाओं को ही सब कुछ नहीं समझना।

(३) शय्यात्याग के समय "अहं ब्रह्म सनातन:।" "जीवो ब्रह्मैव नापर:।" "इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या। भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नम:।" "त्यागो ब्रह्म तथा चान्नं होमो दानं तथैव च सर्वा क्रिया तपस्या च ब्रह्मभूता सनातनी।" "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि: ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।" चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहमं।" "अहं ब्रह्मास्मि।" "प्रज्ञानं ब्रह्म।" "अयमात्मा ब्रह्म।" "ॐ सद्गुरुश्शरणं चिदगुरुश्शरणम्" "ॐ" आनन्दगुरुश्शरणम्" ॐ अखण्ड सच्चिदानन्द गुरुश्शरण्। "न कोऽपि शिष्यो न गुरुश्च कोऽपि नाऽहं शरीरो न च भूतिरूप:।" ब्रह्मैव सर्वत्र परात्परं तत् सज्ज्ञानमेवं पुरत: परस्तात्। इस तरह के वाक्यों का प्रात:काल में चिंतन-अनुचिंतन करते रहना चाहिए।

(४) प्रात:काल ही में पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक के आखिरी भाग तक शून्यता का भाव बढ़ाते रहना चाहिये।

(५) जलाशय मिलने पर जलाशय के किनारे, यों ही एकांत में अथवा जन-सम्पर्क में आँखें मूँदकर उसे भावना द्वारा पैर के अंगूठे को देखते हुए सोचना चाहिए कि यह शून्यरूप हो गया। फिर अंगुलियों को। बाद चरणपृष्ठ और चरणतल को। इसी तरह क्रमश: शिखा-पर्यन्त शून्यभाव बढ़ाते रहना चाहिए। यों ही नदियों को देखकर, आँखें बन्द कर बाद में खुली आँखों से भी शून्यता का अनुभव करते रहना

चाहिए। वैसे ही ऊँची जमीन, पहाड़ों, हरे-भरे खेतों, घरों, पशुओं और पक्षियों आदि के बारे में भी भावात्मक अभ्यास करते रहना चाहिये।

(६) ब्रह्माभ्यासी को सोने के समय में शिखा यानी मस्तक के अन्त से पैर के अंगूठे किंवा नखाग्र तक प्रेम और आनन्द का भाव भरे रहना चाहिए। और, अनुभव करना चाहिये कि वह सर्वतः और सर्वथा प्रेम एवं आनन्द से परिपूर्ण है।

(७) केवल सोने ही के समय नहीं, जब कभी अवसर मिले; भावना द्वारा ऊपर से नीचे की ओर तथा नीचे से ऊपर की ओर प्रेम तथा आनन्द के आरोहण-अवरोहण अनुभूत करने चाहिए।

(८) अभ्यास की विधियों में शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि तथा आत्मा ब्रह्म ही हैं इस प्रकार के भाव से कभी खाली नहीं रहना चाहिए।

प्रश्न—इन साधना-पद्धतियों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य पद्धतियों का अभ्यास-साधन उचित नहीं होगा ?

उत्तर—अवश्य होगा। वेदान्त-ग्रन्थों का चिंतन, तथा उन सभी शास्त्रों का चिंतन, जो ऊपर वैराग्य के पथ से पर वैराग्य की ओर पहुँचाते रहें, आवश्यक है।

प्रश्न—तो क्या इसका यह मतलब हुआ कि ब्रह्मबोध के अनेक उपायों में उपरिलिखित उपाय भी हैं ?

उत्तर—हाँ, किन्तु ये सभी साधनोपाय आप अपने में पूर्ण हैं। इनको अन्य क्रमों की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—हमने तो यह सुना है कि ब्रह्मनाल—जिसको मेरुदण्ड भी कह सकते हैं—के आदि में मध्य के भिन्न-भिन्न चक्रों तथा पीछे की ओर से मस्तक की ओर जानेवाले मार्ग में एवं सहस्रार आदि में ध्यान करने से, शम-दमादि छः साधनों से, चार महावाक्यों के उपदेश से और इसी प्रकार के अन्य उपायों से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है।

उत्तर—हाँ, इन उपायों तथा महाविद्याज्ञान आदि को भी ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मज्ञान-साधनादि नामों से पुकारा जाता है। पर, वे सब योग-साधन के ही भेद में आ जाते हैं। मैंने भी अपने प्रवचनों में इस प्रकार के साधन-पथ को ब्रह्मज्ञान का पथ या ब्रह्मविद्या का साधनभूत बतलाया है।

प्रश्न—आप के विचार में एक शब्द में ही ब्रह्मविद् होने का उपाय क्या है ?

उत्तर—विचार द्वारा ब्रह्म के ब्रह्मत्व का अनुभव करते रहना।

प्रश्न—आप जप-ध्यान-प्राणायामादि को विचार-साधन मानते हैं या नहीं।

उत्तर—जी नहीं, और हाँ भी।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—जप ध्यान में सगुण साकार तथा सगुण निराकार ब्रह्म का साधनानुभव निहित है।

प्रश्न—निर्गुण निराकार पथ में विचारों का ही प्राधान्य रहता है ऐसा आपने बतलाया है; किन्तु जब ध्यान से निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनुभूति होती है या नहीं इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सका। क्यों ?

उत्तर—मन्त्र में जप के समय गुणों का (अलौकिक गुणों का) स्मरण-चिंतन होता है तथा ध्यान-काल में रूपादि का। मूलतः निर्गुण निराकार गुण और रूप दोनों से रहित हैं। अतः उनसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—विचार-साधना द्वारा ब्रह्मबोध ही आप के इस साधन-प्रसंग का मात्र उद्देश्य है क्या ?

उत्तर—जी हाँ, ऐसा ही समझें।

प्रश्न—आप के पीछे, बतलाये गए आठ प्रकार के साधना-प्रकारों में ब्रह्मज्ञान हो जाता है ?

उत्तर—देखा तो ऐसा ही गया है।

प्रश्न—वेदान्त आदि ग्रन्थों का चिंतन आपकी पद्धति का नवाँ साधन-पथ नहीं है ?

उत्तर—उन बातों का सन्निवेश संख्या (३) में ही समझ लेना चाहिए।

———

वेदों में मुक्ति : पाश्चात्य-पौर्वात्य धारणा

डा० किशोर दास स्वामी
एम० ए०, सर्वदर्शनाचार्य, काव्यतार्थ,
विद्यावारिधिः (पी एच० डी०)

केवल चार्वाक् दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों का मुख्य प्रयोजन निर्वाण, परम पद या मुक्ति प्राप्त कराना है। कैवल्य, आत्मबोध, स्वरूपावाप्ति आदि मुक्ति के ही पर्यायवाची शब्द हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा रही है कि जिन वेदों से समस्त भारतीय दर्शनोंका विकास हुआ है, उनमें प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति-तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। कीथ आदि विद्वान् इस कथन के उदाहरण हैं। उन लोगों का मत है कि 'ऋग्वेद-कालमें मानव-जीवन का अन्तिम प्रयोजन, इस पृथ्वी पर ऐश्वर्य-पूर्ण दीर्घ जीवन बिताना तथा अन्त में यज्ञ-यागादि के द्वारा स्वर्गीय सुख प्राप्त करना था। यही कारण है कि यहाँ वैदिक युग के आरम्भ में कर्मकाण्ड की प्रधानता रही जिसके महत्त्व का ज्ञान दीर्घकालीन सांस्कृतिक परम्परा से हुआ था, परन्तु इतना होने पर भी मुक्ति का प्रत्यक्ष संकेत वेदों में नहीं मिलता।'

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि 'ऋग्वेद-काल में आर्यों का जीवन सुखमय एवं उत्साहपूर्ण था। समृद्ध भौतिक जीवन बिताने में उनकी विशेष रुचि रहती थी। जीवन में भय के लिए कोई स्थान न था। आर्य अपनी सन्तान के लिए और वंश-परम्परा के लिए शतवर्षीय आयु की कामना करते थे। उन्हें अपने पुरुषार्थ पर विश्वास था। ऐसी स्थिति में मुक्ति के विषय में न सोचना स्वाभाविक ही था। इसलिए ऋग्वेद की ऋचाओं में मृत्यु के पश्चात् होने वाले जीवन के विचारों का प्रत्यक्ष रूप से बाहुल्य देखने को नहीं मिलता। तथापि उस समय कुछ कल्पनाशील व्यक्तियों के मानस में स्वर्ग और नरक की एक धुंधली-सी छाया अवश्य रहती थी। पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का तबतक पूर्ण निर्धारण नहीं हो पाया था। उस समय के आर्यों की यह मान्यता थी कि मृत्यु ही प्राणियों के जीवन का अन्त नहीं है। जीवन का क्रम रात्रि और दिन के समान है। जैसे रात्रि के आने पर दिन का सदा के लिए अवसान नहीं हो जाता, अपितु कहीं न कहीं रहता है, और रात बीत जाने पर पुनः दिन हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु के आने पर जीवन का अन्त नहीं हो जाता,

अपितु वह कहीं न कहीं रहता अवश्य है। यदि इस पृथ्वी पर नहीं तो यमलोक में रहता होगा। इसीलिए ऋग्वेद में यम और यमी इन दो मरणशील प्राणियों की कल्पना की गई है, जिन्होंने मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाकर अपना अधिकार जमा लिया था। आर्यों का विश्वास था कि उनके पितर अमर होकर स्वर्ग में निवास करते हैं और मरने के पश्चात् उनका जीवन भी प्रकाश का रूप धारण करके, उसी लोक में चला जायगा। वहाँ जाने के लिए जीवात्मा को समुद्र तथा एक सेतु पार करना पड़ता है। साथ ही साथ स्वर्गलोक तक जाने के लिए पितृयान तथा देव-यान, इन दो प्रकार के मार्गों का भी ऋग्वेद में संकेत किया गया है। पर उन मार्गों का कितना अन्तर है, यह स्पष्ट नहीं बताया गया। उस समय तक यम को पुराणों में वर्णित भयानक यमराज के समान नहीं माना जाता था। इससे निश्चत है कि उस समय तक आर्य-समुदाय मृत्यु से भयभीत नहीं था और उसके मन में मुक्ति की स्पष्ट अवधारणा नहीं आ पाई थी।

आर्यों ने इस लोक के जीवन के आधार पर स्वर्ग-लोक के जीवन की कल्पना की थी। जहाँ इस जीवन में इन्द्रिय-सुखों की प्रधानता है, वहाँ स्वर्गीय जीवन में इससे भी अधिक दिव्य सुखों की बहुलता है। स्वर्ग एक आध्यात्मिक लोक है। वहाँ देवगण अनन्त समय तक सुख का उपभोग करते हैं। देवताओं को वहाँ न तो भूख लगती है और न प्यास ही सताती है। उनका जीवन विवाह आदि बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। इन देवताओं का स्वर्गीय जीवन ही आर्यों का आदर्श-जीवन बन गया क्योंकि उन्हें अपने जीवन तथा देवताओं के जीवन में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता था। आर्य सोचते थे—'देवता केवल सुख का उपभोग करते हैं, पर हमारे जीवन में सुख की अपेक्षा दुःखकी मात्रा अधिक है। देवता अमर हैं, जब कि हमारा जीवन मरण-धर्मा है। इस प्रकार के चिन्तन से ही आर्यों ने देवताओं के सुखपूर्ण जीवन को अपना आदर्श बनाया होगा। अब देवताओं की भाँति अमर होने के लिए सोमयाग तथा अश्वमेध आदि याग किए जाने लगे। जो अग्नि देवता को प्रसन्न करता, वह स्वर्ग का चन्द्रमा माना जाता था।

स्वर्ग की धारणा के समान ही ऋग्वेद में किसी सीमा तक नरक की स्थिति भी मान ली गई थी। ऐसे विचार पनपने लगे थे कि दुष्कर्म करनेवाले को किसी निम्न लोक में जाना पड़ता है, जहाँ से वह फिर वापिस नहीं लौटता। ऋग्वेद के कई स्थलों पर वर्णन मिलता है कि बुरे कर्म करने वालों को वरुण ऐसी अँधेरी गुफा में ढकेल देते हैं जहाँ से वे लौटकर नहीं आ सकते। इतना ही नहीं, कई स्थलों पर इन्द्र आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है कि आप अपने पूजकों के शत्रुओं को निम्न अन्ध-लोक में ही डाले रक्खें। इस प्रकार ऋग्वेद-कालीन मान्यता के आधार पर सत्कर्म करनेवालों के लिए स्वर्ग का पुरस्कार और दुष्कर्म करनेवालों के लिए नारकीय दण्ड का विधान पाया जाता है। परन्तु उस समय उन स्वर्गीय सुखों की श्रेणियाँ नहीं बनाई गईं थीं और न नरक के भयानक दुःखों से सम्बन्धित उपाख्यानों की ही रचना हुई थी। संसार-चक्र अथवा पुनर्भव का विचार तबतक भी निश्चित नहीं हो पाया था।

पाश्चात्य विद्वानों की उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद में यमलोक, स्वर्ग लोक तथा नरक लोक की धारणा भले ही निश्चित हो गई रही हो, पर मुक्ति या मोक्ष के बारे में कोई सुव्यवस्थित विचार स्थिर नहीं हो पाया था। केवल मृत्यु को जीवन का अन्त न मान कर, मृत्यु के पश्चात् होनेवाले जीवन के विषय में अनेक प्रकार के ऊहापोह ही पाये जाते थे। वेदों में मुक्ति के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की कुछ ऐसी ही धारणा है।

परन्तु वेद में ऐसी अनेक ऋचाएँ तथा मन्त्र मिलते हैं, जिनमें मुक्ति का साक्षात् उल्लेख किया गया है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि वेदों में मुक्ति-तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले सूक्तों या मंत्रों का अभाव है, वेद के ज्ञान के विषय में यह भ्रान्त धारणा ही कहलायगी। इस भ्रान्त धारणा के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

१. वैदिक साहित्य सर्वाङ्ग-पूर्ण विशाल साहित्य है। चारों वेद, आरण्यक, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ये सब मिलकर वैदिक साहित्य कहलाते हैं। इतनी विस्तृत ज्ञान-राशिका अल्प समय में ही ज्ञान प्राप्त कर लेना सरल कार्य नहीं है।

२. वेद का अपना स्वतन्त्र व्याकरण है, जिसकी एक-एक धातु के अनेक विशिष्ट अर्थ होते हैं, उनकी गहराई तक पहुँचना पाश्चात्य विद्वानों के लिए वैसे ही टेढ़ी खीर है।

३. सायण-भाष्यको छोड़कर वेदों पर और कोई प्रामाणिक भाष्य नहीं है। सायण भाष्य भी प्रौढ तथा प्राञ्जल संस्कृत भाषा में हैं, जिसका पार पाना पाश्चात्य समीक्षकों के वश की बात नहीं है।

४. पाश्चात्य समीक्षकों के वेद-विषयक ज्ञान का आधार कुछ इने-गिने भारतीय विद्वानों-द्वारा लिखे हुए अँगरेजी भाषा के ग्रन्थ ही हैं; जिनके आधार पर वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना शक्य नहीं है।

५. हमारे यहाँ गुरुमुखोच्चारण-पूर्वक, शिष्य वेद विद्या ग्रहण करते हैं, इसीलिए वेद को "आनुश्रविक" कहा जाता है—"गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यानुश्रविको वेदः" वेद का ऐसा अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों के लिए सुलभ नहीं है।

इन कारणों के रहते हुए यदि पाश्चात्य विद्वान् यह कहें कि वेदों में मुक्ति-तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले सूक्तों का अभाव है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

ज्ञान के विकास-क्रम के आधार पर यदि मूलतः चारों वेदों को ही लिया जाय तो उनमें मुक्ति-प्रतिपादक मन्त्रों, सूक्तों तथा ऋचाओं की बहुलता देखने को मिलती है। सर्व प्रथम ऋग्वेद को ही लीजिए। इसमें साक्षात् मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

ऋषि लोग देवाधिदेव, सर्वान्तर्यामी परमात्मा से मुक्त कर देने की प्रार्थना इस प्रकार करते हैं—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ (ऋग्वेद ७।५९।१२)

[समस्त देवताओं के आदि कारण, अपनी महिमा से सुगन्धित वृक्षके समान श्रेष्ठ कीर्ति फैलानेवाले, जीवन-रूपी रस देकर सबका पोषण करनेवाले, त्र्यम्बक का = शिवका सुखकारक परमात्मा का, हम सब पूजन करते हैं, इसलिए हे परमात्मन् ! आप हमें मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार मुक्त कर दीजिए जिस प्रकार ककड़ी का फल बन्धन से मुक्त हो कर वृन्त से अलग हो जाता है। परन्तु 'मा अमृतात्' = सदा अमर बनाए रहनेवाले मोक्ष से विमुक्त मत कीजिए।]

यजुर्वेद में भी इसी आशय का एक मन्त्र है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत ॥ (यजुर्वेद ३।६०)

अज्ञानान्धकार से मुक्त कर देने की, परमात्मा से एक और स्थल पर ऋषि-गण प्रार्थना करते हैं—

"अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्" (ऋग्वेद १०।१३।११)

[हे परमात्मन् ! आप हमारे अज्ञान-अन्धकार को दूर कीजिए। आप हमारे तत्त्व-दर्शनात्मक ज्ञान को परिपूर्ण कीजिए। पाश-समूह से बँधे हुए पक्षियों के समान, हम अज्ञान-रूपी पाश-राशि से बँधे हुए हैं। इस अज्ञान-पाश से आप हमें मुक्त कीजिए।]

निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा तो ऋग्वेदकालीन मुक्ति तथा उपनिषत्कालीन मुक्ति के विचारों में अत्यन्त समानता पाई जाती है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्य—
द्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या—
चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति ॥ (ऋग्वेद १०।८२।७)

[हे मानवो ! क्या आप लोग विश्व का निर्माण करनेवाले, उस परमात्मा को नहीं जानते जो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देनेवाले इन समस्त पदार्थों को उत्पन्न करता है ? निःसन्देह—अहंकार से मोहित हुए जीव, जो यह कहते हैं कि हम उस परमपिता को जानते हैं—यह बात सत्य नहीं है। वह परमात्मा अहंकारवाले मन के द्वारा नहीं जाना जा सकता।] अहंकार से युक्त प्राणियों के अतिरिक्त, वेदान्त-वेद्य परमात्मा की सत्ता अवश्य रहती है। वह परमात्मा क्यों नहीं जाना जाता ? इसका सरल उत्तर है— कुहरे के समान दिखाई देनेवाले, जो न सत् है और न असत् है, ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञान के द्वारा हम सब प्राणियों के अन्तःकरण ढँके रहते हैं। हम सदा मिथ्या बोलने में तत्पर रहते हैं। केवल उदर-पोषण करना ही हमारा प्रयोजन है। इस लोक और परलोक के भोगों का संचय करना ही हमारा ध्येय है। यही कारण है कि तत्त्व-ज्ञान न होने से उस परमात्मा को हम नहीं जान पाते।

मोक्ष-प्राप्ति के उपायों के विषय में इससे अधिक स्पष्ट विचार और क्या हो सकते हैं ? या ऊपर वर्णित "उर्वारुकमिव बन्धनात्" "मुमुग्धयस्मान्निधयेव बद्धान्" आदि वैदिक सूक्तों के अर्थ 'मुक्ति'-परक न होकर और किसके वाचक हो सकते हैं ?

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि इस लोक में मनुष्य जब कर्म करते-करते वृद्ध हो जाता है, तो वह यहाँ से विदा हो जाता है। यही उसकी मृत्यु है और मृत्यु के पश्चात् वह पुनः जन्म ग्रहण करता है—जो इसका प्रथम जन्म कहलाता है। वेद की इसी मौलिक धारणा के आधार पर हमारे हिन्दू संस्कारों में प्रत्येक व्यक्ति के तीन जन्म माने जाते हैं—

१. प्रत्येक व्यक्ति का पहला जन्म शिशु के रूप में होता है।

२. दूसरा जन्म आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने पर होता है।

३. तीसरा जन्म मृत्यु के पश्चात् होता है।

इसलिए जन्म और मृत्यु की धुँधली-सी छाया ही नहीं, वरन् ऋग्वेद-काल में इनका स्पष्ट निर्धारण हो चुका था। यही कारण है कि ऋग्वेद में हम आत्मा को एक गमनागमन-शील चेतन तत्त्व के रूप में चित्रित किया हुआ पाते हैं (ऋक् ४:२७।१) दशम मण्डल के एक मन्त्र में तो किसी अचेतन व्यक्ति के आत्मा को वृक्ष, आकाश एवं सूर्य से लौटने के लिए प्रत्यक्ष रूप से आमंत्रित किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के आर्य जीवात्मा को पशु-पक्षी, तथा वृक्षादिकों में ढूँढते हुए धीरे-धीरे आकाश, नक्षत्र तथा स्वर्ग आदि तक पहुँच गए थे। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि शरीर त्यागने के पश्चात् भी आत्मा की सत्ता रहती है। अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही जीव को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होती है। अन्त में ज्ञान-के द्वारा दुःखों से छुटकारा पाना ही वास्तविक मुक्ति या मोक्ष है।

ऋग्वेद के समान अन्य वेदों में भी मनीषी ऋषियों के कुछ ऐसे वचन मिलते हैं, जिनका अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भी व्यापक रूप से मुक्ति-तत्त्व पर विचार किया गया था। उस समय के देवता भी मुक्ति-सुख का अनुभव करते थे : यहाँ पर देवताओं की जीवन्मुक्ति का स्वरूप देखिए—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता,
धामानि वेद भुवनानि विश्वा
यत्र देवा अमृतमानशाना—
स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजुर्वेद ३२।१०)

[वे परमात्मा हम लोगों के लिए भाई-बन्धुओं के समान माननीय हैं। वे ही हम लोगों को उत्पन्न करनेवाले एवं धारण करनेवाले हैं। वे परमात्मा समस्त भुवनों और समस्त स्थानों का ज्ञान रखनेवाले हैं। अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवता स्वेच्छा से स्वर्ग रूप तीसरे धाम में निवास करते हैं। वे देवगण ब्रह्म में ही अमृत-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कराने-

वाले ज्ञानका अनुभव करते हैं। अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को जानकर, सभी देवता परम आनन्द का अनुभव करते हैं।]

यहाँ निश्चित है कि यह परमानन्द जीवन्मुक्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि वे देवता ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर चुके होते हैं। ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी धर्म हैं। इनका स्वभाव प्रकाश और अन्धकार के समान हैं। जहाँ प्रकाश रहेगा, वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता। उसी प्रकार जहाँ ज्ञान रहेगा, वहाँ अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने का नाम ही मोक्ष है "अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः।"

यजुर्वेद में ज्ञान से प्राप्त होनेवाली सायुज्य मुक्तिका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्,
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्या—
त्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश॥ (यजुर्वेद ३२।११)

[ज्ञानवान् पुरुष वेद-वचनों का अनुचिन्तन करता हुआ, द्यावा, पृथिवी, दिशाएँ विदिशाएं तथा स्वर्ग आदि समस्त लोकों को ब्रह्म रूप से परीत्य = जानकर तथा अपने कर्मों का अधिकार समाप्त करके, पहिले ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी, अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को भूला हुआ जीव, ब्रह्म-साक्षात्कार करके, ब्रह्म ही हो जाता है।]

उसी प्रकार अथर्ववेद में भी ब्रह्मरूपता का प्रतिपादक मन्त्र देखिए—

अकामो धीरोऽमृतस्स्वयम्भूः,
रसेन तृप्तो न कुतश्च नो नः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योः,
आत्मानं धीरमजरं युवानम्॥ (अथर्ववेद १०।८।४)

[जो तत्त्ववेत्ता उस निर्विकार, अजर, अमर, नित्य आत्मा को जानता है, वह मृत्यु से कदापि भयभीत नहीं होता। ऐसा निष्काम, धैर्यशाली पुरुष अजर, अमर, अभयरूप तथा साक्षात् शिव हो जाता है। वह सर्वदा पूर्ण आनन्द से संतृप्त रहता है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। वह वासनाओं से रहित होकर, विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है।]

इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभ्युदय प्रधान वेदों में आरम्भ से ही निःश्रेयस अथवा मुक्ति-तत्त्व की धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। बहुत पहले ही सत्य-द्रष्टा ऋषियों की पैनी दृष्टि ने इस स्थूल एवं नाशवान् जगत् से ऊपर की वस्तु—श्रेष्ठतम ज्योतिः—शाश्वत-मुक्ति का अन्वेषण कर लिया था। आगे चलकर ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषत्काल में उत्तरोत्तर इस सिद्धान्त का परिष्कार हुआ

और मुक्ति तथा इसके साधनों के नाना रूप दिखाई देने लगे। जैसे-जैसे मानव-जीवन का अन्तिम प्रयोजन संसार-चक्र से मुक्ति पाना बनता गया, वैसे-वैसे साधन के रूप में ज्ञान का महत्त्व भी बढ़ता गया। आर्यों की यह धारणा बन गई कि जो मानव ज्ञानके बिना केवल कर्मं का सम्पादन करते हैं, वे बार-बार जन्म लेकर, मृत्यु की भोजन-सामग्री बनते हैं। अन्त में ज्ञान को ही मानव-जीवन का परम साध्य और साधन के रूप में देखा जाने लगा। सभी वस्तुओं का आधार यह परमात्मा है, यह नाना प्रकार के परिवर्तनों में भी सदा एकरस रहने वाला है। यह सदा अकाम तथा पूर्णं काम है। उसी के द्वारा इस विश्व का चँदोवा ताना हुआ है। वह ऋत या सत्य रूप है। आत्मा की इस स्थिति का ज्ञान वासना-रहित अतःकरण से ही हो सकता है। वेदों की मुक्ति-विषयक यह धारणा निःसन्देह हमें उपनिषदों की मुक्ति के समीप तक पहुँचाती है।

अतः, यदि इस वैदिक मुक्ति-कल्पना को, भारतीय दर्शनों को मुक्ति-तत्त्व के बीज प्रदान करनेवाला सुपल्लवित पौधा कहा जाय तो समुचित ही होगा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग

राय कृष्णदास

हिन्दी का सुधारवादी आन्दोलन भारतेंदु काल में ही प्रवर्तित हो चुका था। भारतेन्दुजी ने अपने सत्य हरिश्चंद्र नाटक की भूमिका में यह स्पष्ट घोषणा की है कि बाबू बालेश्वर प्रसाद के सुझाव पर उन्होंने उक्त बालकोपयोगी नाटक लिखा। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भी नई शिक्षा क्रम के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकों में ऐसे सुधारवादी साहित्य दिए। यह प्रक्रिया भारतीय जीवन में उन्नीसवीं शती वाले सुधारवादी आन्दोलन की प्रतिध्वनि मात्र थी। उस काल में समूचा राष्ट्र, म्रियमाण उत्तर मुगलकाल की ह्रासपूर्ण परंपराओं से विद्रोह कर चुका था। यूरोप के सुधारवादी आन्दोलन से देश का प्रबुद्ध वर्ग परिचित हुआ था और उसी वर्ग के हाथ में देश का नेतृत्व था। ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने शिक्षा का नया क्रम चलाया था, उसके अन्तर्गत देश में नए दृष्टिकोण ने जन्म लिया, फलतः जनमानस में ऐसे साहित्य की भूख थी।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उन्नीसवीं शती का अन्त होते होते, उक्त शती वाले सुधारवादी आन्दोलन क्रमशः रूढ़ होने लगे। देश को नये नेतृत्व की आवश्यकता जान पड़ी। इसी के समान्तर हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग के पिछले कांटे के साहित्य में सुधार का दबाव जान पड़ा। बंगला-मराठी आदि भारतीय भाषाओं में 'नया साहित्य' बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था। हिन्दी साहित्यकार मूल अथवा अनुवाद के द्वारा, इस साहित्य से घनिष्ट रूप तथा उस साहित्य के प्रभाव से भी परिचित हो रहे थे। इन प्रभावों से हिन्दी साहित्य में एक 'नई लहर' भी आई।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा का जन्म

उन्नीसवीं शती के अन्त होते होते हिन्दी ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया था। १८९४ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा का जन्म हुआ। इसका महत्व किसी से छिपा नहीं है। इसके अनुकरण में अनेक स्थानों पर नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। साथ ही राधाकृष्ण दास, बदरी नारायण चौधरी, कार्तिक प्रसाद खत्री, प्रताप नारायण मिश्र, राम कृष्ण वर्मा, श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद पूर्ण, बाल मुकुन्द गुप्त, दुर्गा प्रसाद मिश्र, माधव प्रसाद मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, किशोरी लाल गोस्वामी, 'हरिऔध',

'रत्नाकर', महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाल कृष्ण भट्ट, और देवकीनन्दन खत्री स्वयं अपने आप में एक एक संस्था थे। इस युग का विशेष दाय था—हिन्दी में नए साहित्य का सृजन, हिन्दी प्रकाशन का विकास, हिन्दी पत्रकारिता का विकास। इस युग में हिन्दी का अनगढ़पन दूर हुआ और वह परिपुष्ट हुई।

[हिन्दी को उस समय राज्याश्रय प्रायः बिलकुल ही प्राप्त न था। साथ ही हिन्दी के लेखक तथा प्रकाशक हिन्दी के इस योगदान से किसी प्रकार भी आर्थिक लाभ की आशा तक न कर सकते। प्रायः यह सर्वविदित था कि इन प्रकाशनों में जो कुछ धन लगाया जायगा, वह उसी में डूब जायगा। अतः उस काल में हिन्दी प्रकाशन सर्वथा निःस्वार्थ सेवा भाव से ही हो रहा था। अतः हम इसे हिन्दी के प्रति त्याग और बलिदान का युग कह सकते हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का उदय

इस युग ने हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा हो, इस नारे को वास्तविक राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। भारतेन्दु युग ने हमें यह नारा दिया था, परन्तु उसका लोकमानस तक ठीक ठीक प्रचार न हो सका था। द्विवेदी युग में जो सर्वांगीण विकास हुआ उससे हिन्दी का प्रबुद्ध पाठकवर्ग तैयार हो रहा था। इस समुदाय ने देश की वास्तविक आवश्यकता—अपने देश में अपनी भाषा को ठीक-ठीक पहचान लिया था। इस युग के लेखक ने अपनी दूर दृष्टि से यह देख लिया था कि हिन्दी में ही राष्ट्रभाषा होने की शक्ति है अथवा यही सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध सकती है। संस्कृत लोकोपयोगी भाषा बनने की स्थिति में न थी। उसका साहित्य 'क्लासिक्स' के रूप में ही महत्त्वपूर्ण था। उसकी विचारधारा कटी हुई थी. वह ऐसे वर्ग के हाथ में थी जो आधुनिकताविरोधी था। फारसी के दिन मुगल साम्राज्य के साथ-साथ लद गए थे। उसका स्थान अंग्रेजी ले रही थी। अंग्रेजी सात समुद्र पार की अजनबी भाषा थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जकड़न। उससे देश में एक संकुचित वर्ग का निर्माण हो रहा था,-जो सर्वथा प्रतिक्रियावादी था। इस वर्ग का देश से बिल्कुल ही अलगगाव था। भले ही अपवाद रूप में इसी वर्ग से अनेक प्रबल विद्रोही पैदा हुए पर उन विद्रोहियों ने अंग्रेजी भाषा को लात मारना ही उचित समझा। उर्दू कृत्रिम भाषा थी, उसका क्षेत्र भी बहुत संकुचित था। यद्यपि इस युग के हिन्दी के साहित्यकार उर्दू से भलीभांति परिचित थे परन्तु उन्हें यह जानने में देर न लगी कि फारसी जैसी अवैज्ञानिक लिपि तथा इतनी कृत्रिम भाषा, जो देशज और संस्कृत तत्सम शब्दों से परहेज़ करती हो, अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन सकती। द्विवेदी युग के अनेक लेखक उर्दू छोड़कर हिन्दी में लिखने लगे जैसे बालमुकुन्द गुप्त, देवकीनन्दन खत्री और बाद में प्रेमचन्द्र। परन्तु हमें यह भी न भूलना चाहिए कि इन लेखकों का उर्दू से द्वेष न था, न घृणा थी, उन्होंने तो भाषा की अभिव्यक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य की दृष्टि से हिन्दी को चुना।

देश को बीसवीं शती में लाना था। संसार में नित्य नई-नई घटनाएँ हो रही थीं। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक उथल पुथल हो रहे थे। अनुसंधान,—अन्वेषण के चरण

बढ़ रहे थे। दर्शन, कला, काव्य साहित्य, विज्ञान, भैपज्य, तकनीक, कानून जैसे शास्त्र कहाँ से कहाँ बढ़े जा रहे थे। सर्वोपरि ब्रिटिश और फ्रेंच साम्राज्यवाद से पिसती हुई विश्व की जनता कसमसा रही थी। इन साम्राज्यों का सूर्य मध्याह्न पर था, पर दिखलाई भी पड़ रहा था कि यह सूर्य अब ढलेगा। सर्वोपरि उस युग में प्रथम महायुद्ध का अनुभव हिन्दी जगत तक पहुंचाना था। इस युग के प्रकाशनों से स्पष्ट है कि उसने अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निवाहा। उदाहरण के लिये, हिन्दी जगत रवीन्द्र नाथ के काव्य से, उन्हें नोवेल पुरस्कार मिलने के बहुत पहले ही—सरस्वती के माध्यम से—परिचित हो चुका था।

फिर हम यह पाते हैं कि द्विवेदी युग ने जीवन की विभिन्न धाराओं को अपनाया। यह ठीक है कि रचना का अधिकांश काव्य और गल्प को समर्पित था, परन्तु स्वयं 'सरस्वती' में तथा स्वतन्त्र रूप से भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकाशन होते रहे।

भाषा की परिपक्वता और मानकरूप

इस युग में भाषा की परिपक्वता के साथ-साथ उनका मानक रूप भी तैयार किया। स्वयं आचार्य द्विवेदी जी की भाषा इतनी परिष्कृत थी कि उनका काव्य प्रायः वाजाब्ता हो जाता। छन्द, अन्त्यानुप्रास पर उनका बहुत अधिक ध्यान था। द्विवेदी-युग के प्रमुख स्तंभ तनिक भी स्वतन्त्रता न ले सकते। स्वयं द्विवेदी जी उन पर कड़ा अनुशासन रखते। 'सरस्वती' में प्रकाशित रचना का इसी कारण विशिष्ट महत्त्व होता था और वे अन्य साहित्यकारों के लिए आदर्श होतीं। द्विवेदी जी की आलोचनाएँ काफी तीखी होतीं। उनकी शिष्य मण्डली को उनके कठोर उद्गार मिलते रहने का अभ्यास था। हम तटस्थ रूप से यह कह सकते हैं कि द्विवेदी युग के इस कठोर अनुशासन ने किसी न किसी रूप में हिन्दी के कृतित्व को जकड़बन्द कर दिया। फलतः उस समय के विद्रोही कवियों ने अपना अलग झंडा खड़ा किया और छायावाद का जन्म हुआ।

द्विवेदी युग का साहित्य 'व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये' होता। वह आदर्शमूलक साहित्य था, जिसका उद्देश्य शिक्षा देना था। इस प्रवृत्ति से कहीं-कहीं काव्यपक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता, परन्तु देश के नवजागरण में इसका जो योगदान है, उसे हम भुला नहीं सकते। विशेप रूप से राष्ट्रीय उद्‌बोधन में द्विवेदी साहित्य का प्रमुख हाथ था।

प्रायः दो वर्ष पूर्व भारत कला भवन में, अपने साहित्य विभाग संग्रह के आधार पर, भारतेन्दु युग पर एक विशेष प्रदर्शनी और विचारगोष्ठी का आयोजन किया था। इसमें अनेकानेक महत्वपूर्ण सामग्रियां का प्रदर्शन किया गया था। साथ ही विद्वानों ने भारतेन्दु और उस युग के कृतित्व के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये। उसी समय ऐसा कार्यक्रम बनाया गया कि इस योजना में कुछ अन्य प्रदर्शनियों और विचारगोष्ठियाँ की जाँय। फलतः इस वर्ष द्विवेदी युग प्रदर्शनी और विचारगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है। यहाँ द्विवेदी युग प्रदर्शनी की कुछ विशेषताएं देना अप्रासंगिक न होगा।

द्विवेदी जी को डायरी

यहाँ द्विवेदी जी की १९०२ वाली डायरी भी प्रदर्शित है। प्रथम पृष्ठ पर ही उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जीवनी सरस्वती में प्रकाशित करने का कार्यक्रम लिखा है—"(सब्जेक्ट फार सरस्वती, लाइव्स)"। इनमें माइकेल मधुसूदन दत्त, महात्मा रामकृष्ण, विवेकानन्द, विष्णु शास्त्री चिप्लूनकर, आर० सी० दत्त के नाम हैं। अर्थात् इसमें अनेक लोगों के नाम, लेखों के उल्लेख आदि हैं। अन्यत्र चमत्कार शीर्षक के अंतर्गत गिरिसप्पा का प्रभात, नियागरा का प्रपात, कस्तूरी मृग, वानर सेतु, रोडस का पुतला आते हैं। व्लाकों की सूची भी है। संभवतः इन्साक्लोपीडिया ब्रिटानिका जैसे किसी ग्रंथ से अकारादि क्रम से अनेक शीर्षकों को उतारा गया है। एक स्थान पर उन पुस्तकों की सूची है, जिन्हें वे लौटा चुके थे। आगे चलकर लेखों की लम्बी सूची है। संभवतः ये सरस्वती के लिए प्राप्त हुए थे। जिन कामों को वे पूरा करते जाते उन्हें काटते जाते।

इस प्रदर्शनी में द्विवेदी जी की एक नोट बुक है। यह ८ दिसंबर १९०४ की है। इसमें उन्होंने बड़े परिश्रम से इतिहास सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण प्रकाशनों के नाम लिखे हैं, तथा उनसे नोट भी लिए हैं। संभवतः द्विवेदी जी किसी ऐतिहासिक ग्रंथ का प्रणयन कर रहे थे। इस नोट बुक से ज्ञात होता है कि वे ऐसे लेखन के पूर्व कितना परिश्रम करते थे। बानगी के लिए कुछ प्रकाशनों के नाम देखिए: आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, जर्नल आवदि रायल एशियाटिक सोसाइटी, मानुमेन्टल ऐंटिक्विटीज़ आफ यू० पी०, क्रानिकल्स आफ पठान, किंग्स आफ डेल्ही, कार्यन्स आफ हिन्दू किंग्स आफ काबुल, आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की चर्चा है, जिनकी संख्या पचास से भी अधिक होगी।

रचनाओं की पाण्डुलिपियां

द्विवेदीजी की अनेक रचनाओं की पांडुलिपियां भी प्रदर्शित हैं; जिनसे द्विवेदी जी की रचना प्रक्रिया भी पता चलती है:—कौटिल्य-कुठार, अमृत लहरी (१८९६) ईश्वर की प्रथम कल्पना (चतुर्थांश), कुमार संभव सार (तथा उक्त की प्रथम संस्करण की संशोधित प्रति), हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना का परिणाम तथा तत्सम्बन्धी पत्राचार, अन्य कागद पत्र, स्फुट काव्य (दो भाग), नैषध चरित चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, स्फुट लेख (दो भाग), स्वप्न (कविता), आत्मकथा (जिसे अभिनन्दन उत्सव, काशी में पढ़ा), स्मृति मंदिरका शिलालेख, संपत्ति शास्त्र की आलोचना, मिडिल परीक्षा के प्रश्न पत्र, मालतीमाधव (अंग्रेजी), जान स्टूअर्ट मिल के लिबर्टी नामक पुस्तक के अनुवाद तथा सम्बन्धित कागद पत्र आदि।

आचार्य द्विवेदी जी सरस्वती में बहुधा विचारोत्तेजक लेख लिखा करते जिससे हिन्दी संसार में खलबली हो उठती। उनका इसी प्रकार का एक लेख था—भाषा की

अनस्थिरता। उन दिनों हिन्दी के अनूठे जुवां-दां स्वर्गीय बाल मुकुन्द गुप्त, भारत मित्र (कलकत्ता) के संपादक थे। १९०५-०६ में उन्होंने उस लेख के प्रतिवाद में एक बड़ी चुटीली लेखमाला आरंभ कर दी। द्विवेदी जी कुछ निर्बल पड़ने लगे। तब एक दिन आचार्य गोविन्द नारायण मिश्र ने कहा कि—अरे क्या यह बनिया, ब्राह्मण कुमार को पछाड़ देगा ! और आत्माराम की टें टें, शीर्षक से हिन्दी वंगवासी (१९०६) में एक सशक्त लेख-माला निकाली जिससे द्विवेदी जी महराज के पक्ष को विशेष बल मिला। वंगवासी के वही अंक हैं। इसी सम्बन्ध में मोहिनी नामक पत्रिका (१९०६) तथा श्री वेंकटेश्वर समाचार (१९०५-०६) भी कुछ लेख निकाले थे, जिनकी कटिंग द्विवेदी जी ने फाइल के रूप में रखी थी, वह भी यहां प्रदर्शित है।

'सरस्वती' का समालोचना स्तभ

सरस्वती में समालोचना का स्तंभ पुस्तक परीक्षा के नाम से निकला करता। अतः द्विवेदी जी का दृष्टिकोण परीक्षक का ही था जो किसी को नहीं बख्शता। द्विवेदी जी ने "कालिदास की निरंकुशता" नामक पुस्तक लिखी। इससे भी कालिदास की भाषा आदि की त्रुटियों पर विचार किया गया था। इसमें हिन्दी जगत में भूचाल आ गया। यद्यपि द्विवेदी जी का उद्देश्य विचारोत्तेजक साहित्य प्रकाशित करना था, परन्तु हिन्दी जगत ने इस पर घोर प्रतिक्रिया प्रकट की। द्विवेदी जी बड़े व्यवस्थित व्यक्ति थे, उन्होंने इस संबंध के सभी पत्र-व्यवहार, पत्रों की कटिंग आदि करीने से लगाकर फाइल तैयार की जो इस प्रदर्शनी में मिलेगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सृजा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने १९१० ई० में किया। महामना मालवीय जी महाराज उसके सभापति निर्वाचित हुए और आश्विन नवरात्र में उसका अधिवेशन रखा गया। अनेक साहित्यिकों को सम्मेलन की तिथियां मनोनुकूल नहीं थीं क्योंकि उन दिनों घर घर में नवरात्र का दूर्गापूजा आदि होता था। समाचार पत्रों में इसका आन्दोलन आरम्भ हुआ। कलकत्ता उन दिनों हिन्दी समाचार पत्रों का गढ़ था। वहां के प्रायः सभी पत्र आन्दोलन का जोरदार समर्थन कर रहे थे। किन्तु सभा ने सबकी बात अनसुनी की। तब यारों को एक युक्ति सूझी कि उस समय काशी में आचार्य द्विवेदी जी बुलाए जाँय। वे सभा में जायँगे नहीं क्योंकि उन दिनों उन्होंने यही प्रतिज्ञा ले रक्खी थी। सभा की मनमानी का यह अच्छा जवाब था। आचार्य द्विवेदी जी ने प्रार्थना स्वीकार करली और काशी पधारे।

जब महामना जी को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने आचार्य-प्रवर को एक पत्र लिखा, जिसका 'ड्राफ्ट' इस प्रकार है—

प्रिय महावीर प्रसाद जी, नमस्कार,

मुझको यह सुनकर सुख हुआ है कि आप आज काशी जी में विराजमान हैं। मैंने सुना कि आप के पास साहित्य सम्मेलन की एक मंडली इस बात की प्रार्थना करने को गई थी कि आप सम्मेलन को अपने आगमन से सुशोभित करें, किन्तु आपने इस कारण उनकी प्रार्थना नहीं स्वीकार की कि आप प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि आप सम्मेलन में न जायँगे। यदि यह सत्य है तो मैं आप से हिन्दी के सम्बन्ध से इतना कहने का साहस करता हूँ कि आपको स्मरण होगा कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने प्रतिज्ञा की थी कि वे महाभारत में अस्त्र ग्रहण न करेंगे, किन्तु आर्यकुल पूज्य पितामह भीष्म जी ने उनकी इस प्रतिज्ञा को जान कर भी जब यह प्रतिज्ञा कर दी कि—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजों गङ्गा जननी को शंतनु सुत न कहाऊँ।

तो भगवान् ने अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखने के लिये अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ दिया। ये उपदेश हमारे आप के मार्ग दर्शन के लिये नहीं हैं तो क्या हैं ? जब इतने प्रेम और आग्रह से हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यकर्त्ता आपसे सम्मेलन में आने की प्रार्थना करते हैं तो आपको आना ही उचित है। मुझे खेद है कि मुझे इतना अवकाश इस समय नहीं कि मै आप से मिलूँ। किन्तु मैं आशा करता हूँ कि आप एक बार फिर विचार करेंगे कि आपको इस दशा में सम्मेलन में आना उचित है या नहीं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि आपकी उपस्थिति से सम्मेलन में सम्मिलित बहुत अधिक लोगों को प्रसन्नता होगी और आपके न आने से बहुत से लोगों के चित्त में एक खेद रह जायगा।

काशी
अश्विन शुक्ला, ७
सं० १९६७

भवदीय,
मदन मोहन मालवीय

आचार्य प्रवर ने उसका जो उत्तर दिया उसकी उन्हीं के हाथों की लिखी पाण्डुलिपि भी प्रदर्शित है, वह इस प्रकार है—

काशी
अश्विन शुक्ल ७, सं० १९६७

सम्माननीय श्रीमान् मालवीय जी महोदय, नमोनमः।

श्रीमान का कृपापत्र मिला। सम्मेलन से मेरा कोई विरोध नहीं, उससे मेरा अणुरेणु भर भी द्वेष नहीं। उसमें सम्मिलित होना मैं अपना धर्म समझता हूँ : कर्तव्य कर्म समझता हूँ। यदि यह सम्मेलन और कहीं होता—हिमालय के गभीर गह्वारों से लेकर

कुमारिका अन्तरीप के ताल-पर्ण आच्छादित झोपड़ों तक में—तो मैं वहाँ अवश्य जाता...जाता ही नहीं, वहाँ जाकर सम्मेलन की यथा-साध्य सेवा भी करता। यदि बीमारी के कारण चारपाई से लग जाता तो उस दशा में भी चारपाई पर पड़ा पड़ा ही वहां पहुँचता। यदि सम्मेलन के दो चार घंटे पहले मैं मर जाता तो मैं अपने आत्मीयों से कह जाता कि मेरी लाश सम्मेलन के फाटक पर कुछ देर के लिये रख दी जाये।

पर मैं काशी की ना० प्र० सभा के किए हुए इस सम्मेलन में नहीं शरीक हो सकता। जिस सभा ने अनेक प्रकारों से मेरा अपमान किया, जिस सभा ने केवल एक व्यक्ति को प्रसन्न करने के लिए मुझे सभा से निकाल देने की चेष्टा की, जिस सभा ने वर्षों किये गये मेरे काम पर धूल डालकर कृतघ्नता रूपी घोर कर्म किया उससे मैंने सदा के लिए अलग रहने का प्रण कर लिया है। मैंने सोचा कि न मैं इसका सुधार कर सकता हूँ, न इसे दंड ही दे सकता हूँ। इससे घृणासूचक तटस्थता स्वीकार करना ही मेरे लिये अच्छा होगा।

भगवान कृष्ण का उदाहरण मेरे विषय में आप ही दे सकते हैं। और कोई नहीं। क्योंकि आपको मैं इन्हीं का अंशावतार समझता हूँ। मैं तो एक तुच्छातितुच्छ मनुष्य हूँ। कृष्ण और मेरी बराबरी कैसी? उन्होंने न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करके भी अस्त्र-ग्रहण किये; अपने आश्रयदाता कौरवों को छोड़कर पांडवों के पक्ष में लाने के लिये कर्ण को उन्होंने बार-बार फुसलाया; भीम के द्वारा उन्होंने चालाकी से जरासंध का बध कराया! यदि युधिष्ठिर—'अश्वत्थामा हतः" कह कर झूठ बोले, यदि भीम ने अधर्म युद्ध द्वारा दुर्योधन की जंघा तोड़ डाली, यदि सात्यकि ने हाथ कटे हुए और निरस्त्र तथा ध्यानावस्था में बैठे हुए भूरिश्रवा का सिर काट डाला, चोरों की तरह पांडव शिविर में रात को प्रवेश करके अश्वत्थामा ने लाखों मनुष्यों को पशुओं की तरह मार डाला तो वह सब वही करा सकते थे। उनका अनुकरण करने के लिए मुझसे अल्प, अल्प-बल और अकिंचन मनुष्य को क्यों तैयार होना चाहिए? जिन्होंने ऐसे ऐसे काम किये उनके बल, पौरुष, पराक्रम, प्रभुत्व आदि का भी तो विचार कीजिए। वे समर्थ थे, सब कुछ कर सकते थे—सब कुछ करने की उनमें शक्ति थी। उन्होंने सैकड़ों हज़ारों मनुष्यातिग काम कर भी डाले। उनके मुकाबले में मैं क्या चीज हूँ—

जिन्ह मारुत गिरि शिखर उड़ाहीं, कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

मेरे कर्तव्यों का आदर्श और तरह का क्यों न हो? प्रतिज्ञा के विषय में क्यों न मैं भीष्मका अनुकरण करूँ? क्यों न मैं तुलसी दास के—

रघुकुल रीति सदा चलि आयी, प्राण जाय बरु, वचन न जायी।

इस वचन को अपना आदर्श मानूँ? क्यों न मैं भर्तहरि कि इस उक्ति को अपना प्रदर्शक मानूँ?

अतएव इन सब बातों का विचार करके, मालवीय जी, मुझे आप इस सम्मेलन से दूर ही रहने को आज्ञा देने की उदाहरता दिखलाइये।

आपके सदृश महानुभावों की आज्ञा का पालन न करना पाप है। अतएव मुझ पापी से कुछ प्रायश्चित कराइये। प्रायश्चित रूपी कोई और काम बतलाइये। बड़ों का आज्ञोलंघन करने वाले अधर्मी को जो दंड दिया जाता हो, मुझे दीजिये। उसे मैं बड़ी खुशी से सिर नीचा करके ग्रहण करूँगा। आप अपनी महत्ता का ध्यान रखिये। मैं तो अपनी लघुता का निदर्शन कर ही चुका।

न्याव करो तो विभाव नहीं, पै दया जो करौ तो हया रहती है।

दयनीय

महावीर प्रसाद द्विवेदी

'सरस्वती, की पांडुलिपियाँ

यहाँ 'सरस्वती' के अंकों की पांडुलिपियाँ भी प्रदर्शित हैं। ये १९०७, १९११, १९१३, १९१५, १९२०–२१ की फाइलें हैं। सारी फ़ाइलें अत्यंत व्यवस्थित ढ़ंग से रखी गई हैं; करीने से नत्थी की गई हैं। इनमें उस काल के दिग्गजों की पांडुलिपियाँ तो हैं ही, द्विवेदी जी किस रूप में उनका सम्पादन करते थे, इसका भी परिचय मिलता है, द्विवेदी जी का कड़ा अनुशासन दिखलाई पड़ता है। मार्च १९१३ के अंक में हमें महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा के लेख में इसकी कुछ वानगी दिखलाई पड़ती है। इसमें कापीइंग पेंसिल तथा लाल स्याही से, सुन्दर अक्षरों में सुधार किये गये हैं। अनेक वाक्य के वाक्य निकाल दिए गये गये हैं। अन्यत्र वाक्यों को छोटा अधिक सुगठित किया गया है। उदाहरणार्थ, उक्त लेख में रामावतार जी ने लिखा था;" जिसके कारण मनुष्य और जीवों से वढ चढ़ कर होता है। पर मनुष्य की हड्डियों का, उसकी बुद्धि का, भाषा का तथा और विषयों का ठीक अभ्यास करने से यह निश्चित होता है कि मनुष्य से और अन्य जन्तुओं से कोई भेद नहीं है जैसा 'कि प्रायः लोग समझा करते हैं।"

आचार्य द्विवेदी जी ने उपर्युक्त निम्नलिखित रूप दिया," ··· जिसके कारण वे अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। पर मनुष्यों की भाषा, "तथा हड्डियों की परीक्षा करने से यह निश्चित हो गया है कि उनमें और अन्य जन्तुओं में कोई ऐसा भेद नहीं।" अन्य उदाहरणों को देखने से इसमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि आचार्य द्विवेदी उन उन विषयों की पूरी तरह समझने के बाद ही अपनी कलम चलाते। अतः उनके संशोधन काफी सार्थक हैं। उन्होंने लेखों के कई वाक्य इसलिए निकाल दिये कि वे अपने पाठकों से इतनी अपेक्षा करते की वे विषय के स्थूल सिद्धान्तों को जानते थे। दूसरे शब्दों में "सरस्वती" के पाठक प्रबुद्ध थे। द्विवेदी जी उनको और जानकारी देना चाहते थे।

द्विवेदी साहित्य के प्रथम संस्करण

द्विवेदी जी की पुस्तकों के प्रथम संस्करण भी महत्वपूर्ण है, उनमें से कुछ यहाँ प्रदर्शित हैं—हिन्दी कालिदास की समालोचना (१९०१), नागरी (कविता संग्रह, १९००), विनय विनोद (१८८९), काव्य मंजूषा (काव्य संग्रह, १९०३), वंशीशतक (काव्य,) वैराग्य प्रदीप (काव्य), किरातार्जुनीय का अनुवाद (१९१७) सुमन (काव्य-संग्रह, १९२३), कुमार संभव का अनुवाद (१९१७), मेघदूत का अनुवाद (१९१६), विचार विमर्श (लेख-संग्रह, १९३१) आदि।

द्विवेदी युग के कुछ प्रमुख प्रकाशनों के प्रथम संस्करण भी प्रदर्शित हैं : खड़ी बोली का पद्य (अयोध्या प्रसाद खत्री,) १८८७। उजड़ा ग्राम (श्रीधर पाठक, १८८९), श्रांत पथिक (श्रीधर पाठक, १९०२), वंशी शतक (प्रताप नारायण मिश्र, १९०३), चन्द्रकला भानु कुमार नाटक (राय देवी प्रसाद, १९०४), राघव गीत (प्रतापनारायण मिश्र), रंग में भंग (मैथिलीशरण गुप्त, १९०९), रुक्मिणी (हरिऔध, तथा अनेक अन्य ग्रंथ),। भारत सौभाग्य रूपक (उपाध्याय बदरी नारायण शर्मा चौधरी, १८८९), प्रणयिनी परिचय (किशोरीलाल गोस्वामी, १८९०), अनुराग रथ (नाथूराम शंकर शर्मा, १९१३), स्फुट कविता (बाल मुकुन्द गुप्त, १९०५), तृप्यताम् (प्रताप नारायण मिश्र, १९१४), मिश्र बंधु विनोद (१९१३), गद्य कुसुम, मधुकर शाह (अजनेरा १९२२) आदि, पुरानी हिन्दी (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) आदि आदि। इनके अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त के अनेक ग्रन्थों के प्रथम संस्करण प्रदर्शित हैं।

यह विलक्षण सत्य है कि पूर्ववर्ती पत्रों में आचार्य द्विवेदी जी और उनके संवादियों का पत्राचार कभी कभी अंग्रेजी में होता, समस्यायें हिन्दी से ही सम्बन्धित थी। इस वर्ग के पत्रों में द्विवेदी जी के अथवा उनके नाम अनेक पत्र हैं। इनमें जिन साहित्यकारों के उल्लेख हैं, वे इस प्रकार हैं : बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, बालकृष्ण भट्ट, राय देवी प्रसाद, श्याम सुन्दर दास, अंबिका प्रसाद व्यास, मदन मोहन मालवीय, राधाचरण गोस्वामी, शवि चन्द भरतिया, शुकदेव विहारी मिश्र, प्रताप नारायण मिश्र, रामेश्वर भट्ट, पुरोहित गोपीनाथ, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, सकलनारायण पाण्डेय, डाक्टर ग्रियर्सन, किशोरी लाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मन्नन द्विवेदी आदि।

अनेक प्रमुख साहित्यकारों के नाम, आचार्य द्विवेदी जी के पत्र भी इस प्रदर्शनी में सम्मिलित हुए हैं, जिनमें उस काल की साहित्यिक समस्याओं, अथवा उन साहित्यकारों की रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। इनमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य रामचन्द्र वर्मा, राय कृष्णदास, रामेश्वरी नेहरू, राजा कमलानन्द सिंह, लल्ली प्रसाद पाण्डेय, दुर्गा प्रसाद मिश्र, जयशंकर प्रसाद, सियाराम शरण गुप्त, काशी प्रसाद जायसवाल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि उल्लेख्य हैं।

वर्ण-विज्ञान का तात्त्विक रहस्य

सत्यनारायण मिश्र
एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न

समस्त वाङ्मय के मूलभूत वर्ण अक्षर या "मातृका" क्या हैं ? इनकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? वर्ण की क्या परिभाषा है ? क्या वर्ण को ही 'अक्षर' भी कहते हैं ? इनकी संख्या कितनी हैं और उनके क्या-क्या भेद हैं ? ये वर्ण सार्थक हैं या निरर्थक ? क्या इन वर्णों में दैवी शक्ति भी सन्निहित है ? क्या इनके यथार्थ ज्ञान से हम देवत्व प्राप्त कर सकते हैं ? क्या समस्त वाङ्मय वर्णों का ही विस्तृत रूप है ? क्या वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, और परा ये भेद इन्हीं वाङ्मय-स्वरूप वर्णों के हैं ? क्या समस्त वाङ्मय का ज्ञान मानव-द्वारा साध्य है ? आदि शङ्काओं का समाधान ही इस लेख का मूल उद्देश्य है।

महर्षि पतञ्जलि-कृत पस्पशाह्निक महाभाष्य में एक कथा आती है कि गुरु बृहस्पति ने अपने शिष्य इन्द्र के ज्ञानार्थ, देवताओं के वर्ष से एक हजार दिव्य वर्ष तक प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्द-पारायण पाठ किया। किन्तु शब्दों का अन्त नहीं हुआ। वृहस्पति कहने वाले और इन्द्र जैसे श्रोता थे। पढ़ने का समय था देवताओं के वर्ष से एक हजार दिव्य वर्ष। किन्तु शब्दों का अन्त नहीं लगा। आज के युग में जो अधिक से अधिक जीवित रह सकता है तो सौ वर्ष। फिर इस अगम्य, अथाह वाङ्मय का ज्ञान अल्प समय में साध्य कैसे हो ? यह एक गम्भीर समस्या है।

एवं हि श्रूयते—"वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। वृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकाल:; तथापि नान्तं जगाम। किम्पुनरद्यत्वे—यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति ॥

इस प्रसंग में इन्द्र के अनेक रूप दर्शाये गये हैं। देव-विशेष या देवाधिदेव को इन्द्र कहते हैं। शरीररहित जगत् के निर्माता प्राण-विशेष देव को भी इन्द्र कहते हैं। तारामण्डल में भी चित्रा नक्षत्र के अधिपति इन्द्र कहे गये हैं। रेवती नक्षत्र के अधिपति पूषा और उसके अधिपति तारा-रूप वृहस्पति माने गये हैं। इन्द्र ने देवगुरु वृहस्पति से वाङ्मय-ज्ञान उपलब्ध किया और इन्द्रने सर्वप्रथम देवताओं के ज्ञानार्थ अव्याकृत अर्थात् पद-वाक्य-संस्कार-रहित वाणी का प्रयोग किया। देवों के अनुनय-विनय से इन्द्र ने कहा :—विशेष प्राणस्वरूप वायु के साथ मैंने इस वाक् को व्याकृत अर्थात् पद-वाक्य-रूप प्रदान किया है, इसका विशद विवेचन तैत्तिरीय षष्ठ काण्ड में इस प्रकार वर्णित है—

"वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीद्—वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याताविति। तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते" इति।

वाणी में पदवाक्यादि का जो विभाग है वह ज्ञान-कृत है। इस विषय में राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः॥ (वा. प. ब्र. का. १०८)

अर्थात् किसी ने व्याकृत अर्थात् पद-वाक्य-संस्कृत वाक् को वायुकृत, अणुकृत और ज्ञानकृत माना है। इस त्रिविध सिद्धान्त में दार्शनिक एकता नहीं है। वक्ता की इच्छा का अनुवर्तन करनेवाला प्रयत्न-द्वारा क्रिया को प्राप्त कर प्राणवायु—कण्ठ, तालु आदि स्थानों में ताडित होकर शब्द-जनक संयोग का आश्रय प्राप्त होकर शब्द-भाव को प्राप्त होता है। वह मनुष्यों के वाग्व्यवहार में 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' इस भेद-चतुष्टय से निरूपित किया गया है।

इस भेद-चतुष्टय में वाणी और मन से अतीत केवल योगियों-द्वारा निर्विकल्प समाधि में ही पराशक्ति-रूप "परावाक्" ज्ञानगम्य है। उस परावाक् से उत्पन्न होनेवाली "पश्यन्ती" वाणी का भी शब्द और अर्थ के विभाग न होने के कारण वह भी सम्मुग्ध ज्ञानरूप है। अतएव उसका भी साक्षात् निरूपण असम्भव है। उसके पश्चात् यद्यपि "मध्यमावाणी" में शब्दार्थ का विभाग होता है तथापि वह भी केवल मानस अर्थात् मन-सम्बन्धी ही होता है। वह भी सामान्य पुरुषों-द्वारा ज्ञानगम्य नहीं है। शब्दरूप होने के कारण केवल चतुर्थ "वैखरी वाक्" ही सबको विज्ञात है जैसा कि श्रुति ने निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट प्रतिपादित किया है—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥" इति

इस सर्वसाधारण-द्वारा व्यवहारप्रयुक्त वैखरी वाक् का मूल रूप 'अक्षर' या 'वर्ण' ही है जिसे हम स्वर और व्यंजन के रूप में विभक्त करते हैं। इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत लेख में आगे किया जायगा। हमें यहाँ केवल धातुओं या अक्षरों की सार्थकता पर विचार करना है कि कैसे, किस धातु या अक्षर का अमुक अर्थ सम्पन्न हो गया। मैक्समूलर महोदय ने अपनी शंकाओं को इस रूप में अभिव्यक्त किया है :—

'How can sound express thought ? How did roots become the signs of general ideas ? How was the abstract idea of measuring expressed by मा, the idea of thinking by 'मन्' ? How did गा come to mean going, स्था standing, सद् sitting, दा giving मृङ् dying, चर् walking and कृ doing ? (Lecture on the Science of the Language, vol. I, P. 82 by Maxmuller.)

मैक्समूलर महोदय को यह पता नहीं लगा कि किसी ध्वनि या धातु का अमुक अर्थ क्यों होता है ? वे यह नहीं जान सके कि मूल भाषा की धातुओं या अक्षरों के अर्थ किसी कार्य-कारण-भाव से निश्चित किये गये हैं। उनके इस प्रश्न पर अर्वाचीन विद्वान्-मण्डली भले ही मौन रहे किन्तु प्राचीन क्रान्तदर्शी महर्षि, भला कैसे मौन रह सकते हैं ? हमारे महनीय महर्षियों का सिद्धान्त है कि हमारी मौलिक भाषा अपौरुषेय है और उसके कारणरूप धातुओं और वर्णों का अर्थ अवश्य है। जिस प्रकार एक एक परमाणु से पृथ्वी बनी है और पृथ्वी में वही गुण है जो परमाणुओं में हैं, ठीक इसी प्रकार यह भाषा-रूप पृथ्वी भी अक्षररूप परमाणुओं से निर्मित है और उसके अक्षरों में जो अर्थरूपी गुण हैं वही अर्थरूपी गुण भाषारूपी पृथ्वी में भी है। जिस प्रकार वाक्यों का अर्थ समझ में तभी आ सकता है जब कि वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ ज्ञात हो और शब्दों का अर्थ यथार्थ रूप में तभी समझ में आ सकता है जब उनमें प्रयुक्त अक्षरों का अर्थज्ञान हो। विशेष रूप में हम जिस भाषा को अपौरुषेय और वैज्ञानिक मानते हैं उसके अक्षर तो अवश्य ही सार्थक होने चाहिये। अंग्रेजी भाषा और साहित्य में निरर्थक वर्णों का उच्चारण करते समय उन्हें अव्यक्त (Silent) घोषित किया जाता है। एक ही 'U' को कहीं 'अ' और कहीं 'उ' का रूप दिया जाता है जैसा कि Cut (कट) और Put (पुट) इत्यादि शब्दों में व्यवहृत किया गया है। ऐसी अव्यवहार्य परम्परा संस्कृत भाषा में नहीं है।

संस्कृत भाषा के महावैयाकरण भाष्यकार पतञ्जलि ने प्रत्येक वर्ण का अर्थ स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

"अर्थवन्तो वर्णाः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ।"

(१ अ १ पा० द्वि० आ०)

अर्थात् धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात सबका प्रत्येक वर्ण अर्थवान् होता है। जैसे इण् धातु का "एति, अध्येति, अधीतः" इत्यादि जिनका अर्थ क्रमशः 'जाता है, पढ़ता है, पढ़ चुका है' अर्थ स्पष्ट है। इसी प्रकार प्रातिपदिक एक वर्ण भी अर्थवान् हैं जैसा कि 'आभ्याम्, एभिः, एषु'। इन प्रातिपदिक शब्दों का स्पष्टार्थ अभीष्ट है। एक वर्णवाले प्रत्यय भी अर्थवान् होते हैं जैसा कि 'दाशरथिः' 'प्रियः' इनसे स्पष्ट है। एक वर्णवाले निपात भी अर्थवान् होते हैं जैसा कि 'इ' 'इन्द्रं पश्य', 'उ' 'उत्तिष्ठ' आदि उदाहरणों से प्रतीत होता है। हम इसे महामुनि पतंजलि की कल्पना ही नहीं मानते प्रत्युत वेद ने भी स्वयं इन अक्षरार्थों का निरूपण किया है, जैसा कि निम्नांकित मंत्र से ज्ञात होता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋ० वे० १।१६४।३९)

अर्थात् ऋचाएँ अविनाशी शब्दमय अक्षर में आधृत हैं जिनमें देव अर्थात् शब्द के अर्थ स्थित हैं। जो उस अक्षरार्थ को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है? इसका अनुगमन करते हुए, पतंजलि ने कहा हैं कि 'वाणी का विषय वर्णज्ञान है जहाँ ब्रह्म स्वभाव रूप से अधिष्ठित है। विना अक्षरार्थ के वेदज्ञान नहीं हो सकता':—

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥ (महाभाष्य १।१२)

वैदिक व्याकरण के निर्माता निरुक्तकार ने भी इस अक्षरार्थ को अपनी वैदिक शैली में इस रूप में व्यवहृत किया है:—

"क: कमनीयो भवति, सुखो भवति क्रमणीयो वा।
तद्यथा क: कमनो वा, क्रमणो वा सुखो वा इति॥ (निरु० दै० ४।२२)

—गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा (निरू० दै० १।१४)

अर्थात् क—कमनीय, सुख और क्रमणीय अर्थ का वोधक है और ग—दहन आदि अर्थ का वोधक है।

"छान्दोग्योपनिषद्" में स, त और य अक्षर का अर्थ करते हुए कहा गया है कि—

"तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'स ति यमिति'।
तद्यत् सत् तदमृतमथ यत् ति तन्मर्त्यमथ यत् यम् तेनोभे यच्छति॥

अर्थात् स, त, य, इन जिन तीन अक्षरों से सत् शब्द सम्बद्ध है, उनमें 'स' का अर्थ अमृत, 'त' का अर्थ मर्त्य और 'य' का अर्थ अमृत तथा मर्त्य दोनों अर्थों को नियंत्रित करना है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अक्षरार्थ के अनेक उदाहरण विशद रूप में उपलब्ध हैं। 'भर्ग' शब्द के अक्षरार्थ की व्याख्या करते हुए "गोपथ ब्राह्मण" में लिखा है :—

भ इति भासयतीतीमांल्लोकान्।

र इति रञ्जयतीतीमांल्लोकान्।

ग इति गमयतीतीमांल्लोकान् इति भर्ग: (गोपथ ब्राह्मण)

अर्थात् भकार का अर्थ भासित, रकार का अर्थ रंजित और गकार का अर्थ गमन करना है। इसी प्रकार ब्राह्मण में 'मख' शब्द की व्याख्या भी विज्ञानगम्य एवं हृदयग्राह्य है:—

"मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्।
छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेध: मा यज्ञे छिद्रं करिष्यतीति॥"

(गोपथ ब्राह्मण २।१।५)

इस मंत्र में यज्ञ का नाम "मख" है। मख में खकार का अर्थ छिद्र है और मकार का अर्थ निषेध है। छिद्र अर्थात् त्रुटि-रहित यज्ञ को मख कहते हैं। इसी प्रकार 'नाक' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'क' का अर्थ सुख और ककार स्थित 'अ' का अर्थ क के अर्थ का निषेध करना है और उस क का निषेध करने वाला 'न' है। इस प्रकार नाक शब्द का अर्थ सुख-स्थान या स्वर्ग है जैसा कि निम्मांकित निरुक्त-प्रमाण से सिद्ध होता है:– 'कमिति सुखम् नाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत्' इसी प्रकार समस्त वैदिक और लौकिक साहित्य में प्रत्येक अक्षर का अर्थ स्पष्ट है।

वास्तव में पतञ्जति के कथनानुसार—

"न क्षीयते न क्षरति इत्यक्षरं, अश्नोतेर्वा सरोक्षरं, वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे"।

इस उक्ति से अक्षर शब्द का अर्थ ही अविनाशी और शाश्वत है। जैसा कि गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है :—

अक्षरं ब्रह्म परमो स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावाद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ (गीता अ० ८ श्लोक ३)

इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि संस्कृत साहित्य का समस्त वाङ्मय जिसके विना पारमार्थिक और व्यावहारिक अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता वही अक्षरानुविद्ध शब्द है। राजर्षि भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है :—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते॥

(वा० ब्र० का० श्लोक सं० १२३)

अब हम पौराणिक दृष्टि से इस वर्ण-विज्ञान के वैज्ञानिक और दैवत्-सम्बन्धी तात्त्विक रहस्य पर विचार करते हैं; वर्णों या मातृका में जो स्वर-व्यञ्जन भेद हैं, उनमें १४ स्वर १४ मनु हैं। व्यञ्जन वर्णों में 'क' से 'ठ' तक ये १२ अक्षर सूर्य हैं, 'ड' से 'ब' तक ये ११ अक्षर रुद्रसम हैं। भ से ष तक ये आठ अक्षर आठ वसु हैं और 'स-ह' ये अश्विनी कुमार है। इस प्रकार ये ३२ व्यञ्जन वर्ण भारतीय संस्कृति में तैंतीस कोटि देवता भी माने गये हैं। अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय और उपध्मानीय, ये चतुर्विध सृष्टि के सूचक है। अ, उ, म ये ओम् एकाक्षर ब्रह्म के प्रतीक हैं। अर्धमात्रा सदा शिव का बोधक है। इन बातोंको सुतनु-नारद सम्वाद के रूप में प्रस्तुत करेंगे।

इस प्रसङ्ग में देवर्षि नारद-द्वारा उपस्थापित १२ प्रश्नों में "मातृका" 'वर्णमाला'-सम्बन्धी भी एक प्रश्न उठाया गया है। देवर्षि नारद विपुल भूदान देने की सदिच्छा से १२ प्रश्न लेकर समस्त भूमण्डल से लौटकर निराश हो पुनः हिमालय के शिखर पर बैठकर सोचने लगे। सहसा उनके मन में यह ध्यान आया कि "कलाप ग्राम" चलना चाहिये, जो मिथिला की पुण्य भूमि में स्थित है, जो १०० योजन तक विस्तृत है और जहाँ सूर्य-वंश, चन्द्र-वंश और

ब्राह्मण वंश का बीज शेष और सुरक्षित है। वे सहसा आकाश-मार्ग से वहाँ पहुंच गये और उन्होंने अपना प्रश्न वहाँ की विद्वन्मण्डली में उपस्थित किया। विद्वानों ने हासपूर्वक उत्तर दिया :—"यह लघुतम प्रश्न है। इसका उत्तर यहाँ का ज्ञानहीन बालक "सुतनु" दे सकता है।" देवर्षि नारद ने सुतनु से प्रश्न किया:—

"मातृकां को विजानाति कतिधा कीदृशाक्षराम्"।
(स्कन्द माहेश्वर खण्ड-कुमारिका खण्ड (३।२०५-२१२)

मातृका (वर्णमाला) को कौन विशेष रूप से जानता है? वह मातृका कितने प्रकार की और कैसे अक्षरोंवाली है?

सुतनु ने उत्तर दिया:—मातृका में ५२ अक्षर बताये गये हैं। उनमें सबसे प्रथम अक्षर ओंकार है। उसके अतिरिक्त १४ स्वर, तैंतीस व्यञ्जन, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ये सब मिलकर ५२ मातृका वर्ण माने गये हैं।

"ओंकारः प्रथमस्तस्य, चतुर्दश स्वरास्तथा।
वर्णाश्चैव त्रयस्त्रिंशदनुस्वारस्तथैव च॥
विसर्जनीयश्च परो, जिह्वामूलीय एव च।
उपध्मानीय एवापि, द्विपञ्चाशदमी स्मृता॥
(स्क० मा० कुमा० ३।०३५-२३७)

सुतनु ने देवर्षि नारद से कहा:—द्विजवर! यह तो मैंने आप से अक्षरमें संख्या बतलाई है अब इनका अर्थ सुनिये। परन्तु इसके इस अर्थ के विषय में मैं आपसे एक इतिहास कहूँगा—वह इस प्रकार है—"पूर्वकाल में मिथिला नगरी में कौथुम नाम के प्रसिद्ध एक ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने भूमण्डलपर विख्यात सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ लिया था। वे ३१ हजार वर्ष तक सादर स्वाध्याय में संलग्न रहे, अध्ययन-काल में एक क्षण भी उनका समय व्यर्थ नहीं गया। अध्ययनानन्तर जब वे गृहस्थ हुये तो कुछ समय के बाद उन्हें एक पुत्र हुआ। उसका सम्पूर्ण व्यवहार जडवत् था। उसने केवल मातृका पढ़ी। मातृका ज्ञानानन्तर वह किसी प्रकार की अन्य बातें नहीं याद करता था। इससे उसके पिता अत्यन्त खिन्न हुये और उसे पढ़ने के लिये मिठाई का प्रलोभन देने लगे और कहा कि यदि तुम नहीं पढ़ोगे तो मैं तुम्हारे दोनों कान उखाड़ लूँगा। पुत्र ने उत्तर दिया कि क्या मिठाई के लोभ से पढ़ा जाता है? क्या लोभ की पूर्ति ही अध्ययन का उद्देश्य है? अध्ययन तो उसे कहते हैं जो परलोक में लाभदायक हो। इस प्रसङ्ग में व्यर्थ वादविवाद के पश्चात् पुत्र ने कहा कि पिताजी! जानने योग्य जितना विषय है उसकी मूलरूपा मातृका तो मैंने जान ली। अब व्यर्थ कण्ठ किस लिये सुखाया जाय। पिता ने साग्रह पूछा—पुत्र! बता तो सही। तूने इन मातृकाओं में किन-किन ज्ञातव्य अर्थों का ज्ञान प्राप्त किया है। पुत्र ने कहा—पिता जी! आपने ३१ हजार वर्षों तक अनेकविध तर्कों के साथ अध्ययन करते हुये भी केवल

भ्रम का ही साधन किया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये मातृकाएँ ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत हैं। मातृका का प्रथम वर्ण 'ओम्' जो अ, उ और म से सम्बद्ध है, उसमें अकार ब्रह्मा है (जो सृष्टि के उत्पादक हैं), "उकार" विष्णु हैं, जो सृष्टि के रक्षक-पोषक माने गये हैं और मकार को महेश्वर का प्रतीक माना गया है, जो सृष्टि—संहारक हैं। इस प्रकार इन तीनों अक्षरों से सम्बद्ध 'ओम्' सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का सूचक है जिन तीन गुणों के वैषम्य भाव से समस्त चराचर की सृष्टि होती है। ओंकार के मस्तक पर जो "ँ" अनुस्वार स्वरूप अर्धमात्रा है; वह सर्वोत्कृष्ट भगवान् सदाशिव का प्रतीक है। यह है ओंकार की महिमा, जिसका वर्णन कोटि-कोटि ग्रन्थों द्वारा दस हजार वर्षों में भी नहीं किया जा सकता—

अकारः कथितो ब्रह्मा, उकारो विष्णुरुच्यते।
मकारश्च स्मृतो रुद्रस्त्रयश्चैते गुणाः स्मृताः॥
अर्धमात्रा च या मूर्ध्नि, परमः सः सदाशिवः।

हम पहिले निर्देश कर चुके हैं कि ये सभी मातृकाएँ अर्थवती हैं। सभी वर्ण अर्थवान् हैं। भाष्यकार पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार इन वर्णों की सार्थकता के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला चुका है।

उस अर्थवत्ता के साथ इन वर्णों में देवत्व भी सन्निधापित है। इस विषय में पौराणिक व्याख्या मननीय, विचारणीय एवं विज्ञानगम्य है। सुतनु के शब्दों में अकार से लेकर औकार तक ये चौदह स्वर १४ मनुस्वरूप हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ—ये चौदह स्वर हैं और स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम, रैवत, तामस, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुद्र सावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि, रौच्य तथा भौत्य ये चौदह मनु हैं। अ (स्वायम्भुव) आ (स्वारोचिष) इ (औत्तम) ई (रैवत) उ (तामस) ऊ (चाक्षुष) ऋ (वैवस्वत) यह वैवस्वत मनु इस समय वर्तमान है, हिन्दु (आर्य) जाति के प्रत्येक श्रौत-स्मार्तकर्मादि कृत्यों में संकल्प के रूप में इस मनु का उपयोग किया जाता है। ॠ (सावर्णि) ऌ (ब्रह्मसावर्णि) ॡ (रुद्र-सावर्णि) ए (दक्षसावर्णि) ऐ (धर्मसावर्णि,) ओ (रौच्य) और औ (भौत्य) ये उक्त चौदह स्वर उपर्युक्त चौदह मनु के रूप हैं। इन मनुओं के क्रमशः श्वेत, पाण्डु, लोहित, ताम्र, पीत, कपिल, कृष्ण, श्याम, धूम्र, अधिक पिङ्गल, अल्पपिङ्गल, त्रिरङ्ग, बहुरङ्ग, तथा कर्बुर (अर्थात् चितकाबर), विविध रंगवाला ये चौदह रंग है जिनका सीधा प्रभाव क्रमशः चौदह स्वरोंपर पड़ता है वर्तमान वैवस्वतमनु—ऋकार स्वरूप हैं और इनका रंग अन्तर-बाह्य उभयथा काला है।

'क' से लेकर 'ह' तक ये तैंतीस देवता हैं। इनमें 'क' से 'ठ' तक १२ आदित्य (सूर्य) माने गये हैं। ये बारह सूर्य क्रमशः धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंशु, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु ये १२ आदित्य है। इनमें विष्णु (वामन रूप में)

सबसे छोटे होते हुए भी, सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। ये द्वादशादित्य ककारादि वर्णों में निम्नाङ्कित रूप में विद्यमान हैं—

क (धाता) ख (मित्र) ग (अर्यमा) घ (शक्र) ङ (वरुण) च (अंशु) छ (भग) ज (विवस्वान्) झ (पूषा) ञ (सविता) ट (त्विष्टा) और ठ (विष्णु); अतः ये वर्णों में स्वभावतः सूर्य-रश्मि-स्वरूप ही हैं।

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो, वरुणश्चांशुरेव च।
भगो विवस्वान् पूषा च, सविता दशमस्तथा॥
एकादशस्तथा त्वष्टा, विष्णुर्द्वादश उच्यते॥

"ड" से "ब" तक जो ग्यारह अक्षर हैं वे ग्यारह रुद्र हैं अर्थात् ड (कपाली) ढ (पिङ्गल) ण (भीम) त (विरूपाक्ष) थ (विलोहित) द (अजक) ध (शासन) न (शास्ता) प (शम्भु) फ (चण्ड) और "ब" (भव) ग्यारह व्यञ्जन ग्यारह रुद्र के रूप माने गये हैं।

कपाली पिङ्गलो भीमः विरूपाक्षो विलोहितः।
अजकः शासनः शास्ता शम्भुश्चण्डो भवस्तथा॥

'भ' से लेकर 'ष' तक ये आठ व्यञ्जन क्रमशः आठ वसु हैं। अर्थात् भ (ध्रुव) म (घोर) य (सोम) र (आप) ल (अनल) व (अनिल) श (प्रत्यूष) और ष (प्रभास) इन व्यञ्जनों में स्वभावतः उक्त आठ वसुओं का सन्निवेश है अर्थात् ये अष्ट व्यञ्जन अष्ट वसु ही हैं —

ध्रुवो घोरश्च सोमश्च, आपश्चैवानलोऽनिलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च, अष्टौ ते वसवः स्मृताः॥

स और ह ये दोनों अश्विनीकुमार बतलाये गये हैं। इस प्रकार ये ३३ व्यञ्जन तैंतीस कोटि अर्थात् तैंतीस प्रकार के देवता हैं।

औकारान्ता अकाराद्या, मनवस्ते चतुर्दश।
स्वायम्भुवश्च स्वारोचिरौत्तमो रैवतस्तथा।
तामसश्चाक्षुषश्षष्ठस्तथा वैवस्वतोऽधुना॥
सावर्णिब्रह्मसावर्णी रुद्रसावर्णिरेव वा।
दक्षसावर्णिरेवापि धर्मसावर्णिरेव च।
रौच्यो भौत्यो तथैवापि मनवोऽमी चतुर्दश॥
श्वेतः पाण्डुस्तथा रक्तः ताम्रः पीतश्च कापिलः।
कृष्णः श्यामस्तथा धूम्रः सुपिशङ्गः पिशङ्गकः।
त्रिवर्णः शबलो वर्णैः, कर्बुरश्च इति क्रमात्।
वैवस्वतः ऋकारश्च, तात ! कृष्णः प्रपद्यते।

ककाराद्या हकारान्ताः, त्रयस्त्रिंशच्च देवताः ।
ककाराद्याष्ठकारान्ता, आदित्या द्वादशस्मृताः ।
डकाराद्या वकारान्ता, रुद्राश्चैकादशैव ते ।
भकाराद्या षकारान्ता, अष्टौ हि वसवो मता ।
सहौ चेत्यश्विनौ ख्यातौ, त्रयस्त्रिंशदिति स्मृताः ।।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्यानीय ये चार अक्षर क्रमशः जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार प्रकार के जीव बतलाये गये हैं :—

अनुस्वारो विसर्गश्च, जिह्वामूलीय एव च ।
उपध्मानीय इत्येते, जरायुजास्तथाऽण्डजाः ।
स्वेदजाश्चोद्भिज्जाश्च पितर्जीवा प्रकीर्तिताः ।।

(स्क० मा० कुमाः ३/२५४-२६२)

उद्भिज्ज (जो पृथिवी को फाड़कर बाहर निकल आते हैं जैसे घास, शस्य, लता, गुल्म, वृक्षादि), स्वेदज (जो पसीने या गर्मी से उत्पन्न होते हैं, जैसे लीक, जूँ आदि; अण्डज (जो अण्डे से उत्पन्न होते हैं) अर्थात् वृश्चिक, सर्प, पक्षी आदि; जरायुज इस योनि के दो भेद हैं—पशु और मानव । पशुओं में विविध जीव हैं जैसे गाय—वृषभादि और मानव तो लोक-प्रसिद्ध हैं ही ।

इन वर्णों की विज्ञानता दर्शाते हुये सुतनु ने कहा :—पिताजी जो पुरुष अक्षर या वर्णस्वरूप इन देवताओं का आश्रय लेकर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, वे ही अर्धमात्रा-स्वरूप नित्य पद (सदाशिव) में लीन होते हैं । चार प्रकार के जीवों में से कोई भी जब मन, वाणी और क्रिया-द्वारा इन देवताओं का व्यक्त या अव्यक्त रूप से भजन करता है तभी उसे मुक्ति प्राप्त होती है । जिस शास्त्र में पापी मनुष्यों के द्वारा ये देवता नहीं माने गये हैं वह शास्त्र यदि ब्रह्मा द्वारा भी कहा गया हो तो वह अमान्य है । ये सभी देवता वैदिक मार्ग में अक्षरों के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं । जो व्यक्ति अक्षर-रूप इन देवताओं का का उल्लंघन करके तप-दान अथवा जपादि कार्य में प्रवृत्त होते हैं वे वायु-प्रधान मार्ग में जाकर शीत से विकम्पित होते रहते हैं । कितना अनर्थ है कि हम मातृका तो पढ़ते हैं परन्तु इन मातृकाओं (वर्णमाला) में इन देवताओं का हमें आभास भी नहीं मिलता ।

हमारे वैदिक महर्षियों से इन्हीं तात्त्विक विज्ञान-गम्य विचारों का आश्रय लेकर भाषाशास्त्रियों ने इस वर्णमाला को "देवनागरी लिपि" भी कहा है ।

हमें दृढ विश्वास है इस लेख के पाठक गम्भीरतापूर्वक इसका मनन करते हुये, तदनुकूल जीवन को व्यवहार में लाने का प्रयास कर भारत और माँ भारती का मस्तक ऊँचा उठायेंगे । शम् ।

संस्कृत गद्य के मुकुटमणि : बाणभट्ट

पंडित बलदेव उपाध्याय

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

बाणभट्ट भगवती शारदा के वरद पुत्र थे । उनके ऊपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की अनुकम्पा समभाव से विद्यमान थीं । कविसमाज में उनका जितना आदर था उतना ही सम्मान उन्हें राजदरबार में भी प्राप्त था । हर्षचरित के आरम्भिक दो परिच्छेदों में बाण ने जो अपनी आत्मकथा लिखी है वह उनके जीवनचरित को जानने के लिए ही उपयोगी नहीं है, प्रत्युत साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम वस्तु है । बाणभट्ट शोणनद के किनारे प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे । इनके पितामह का नाम अर्थपति और बाप का चित्रभानु था ।

समय-निरूपण

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी । लड़कपन में ही इनके पिता की मृत्यु हो गई थी । किसी वयस्क अभिभावक के न रहने से इन्हें कुसंगत लग गई । इसी कुसंगत के फलस्वरूप इन्होंने देशाटन किया । इस पर्यटन से उन्होंने खूब लोक-चातुरी प्राप्त की । एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया । पत्र में लिखा था कि राजा तुम से नाराज है, अत एव शीघ्र आओ । बाण हर्ष के पास गये । पहिले तो राजा ने उनकी अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय प्रदान किया । अनन्तर हर्षवर्धन की विद्वत्-सभा के प्रमुख पण्डित के पद पर विराजमान हुए । हर्षवर्धन का समय ईस्वी की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध है और यही समय बाणभट्ट के आविर्भाव का समय है ।

इस समय की पुष्टि अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों से भी होती है । रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' (११५० ईस्वी) में बाण के 'हर्षचरित' का उल्लेख अनेक बार किया है । रुद्रट-रचित 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (१०७० ईस्वी) ने कादम्बरी को कथा का तथा हर्षचरित को आख्यायिका का नमूना बतलाया है । भोजराज (१०५० ईस्वी) ने 'सरस्वती-कंठाभरण' के एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को उत्कृष्ट बतलाया है—"यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः ।"

इस उल्लेख से बाण के द्वारा किसी पद्यबद्ध काव्य के प्रणयन का भी अनुमान लगाया जा सकता है। क्षेमेन्द्र ने बाण की पद्य-कादम्बरी के कतिपय श्लोक अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में उद्धृत किए हैं। धनंजय (दशम शताब्दी का अन्त) ने अपने 'दशरूपक' की टीका में बाणभट्ट के 'महाश्वेतावृत्तान्त' से उद्धरण दिया है। वामन (८०० ईस्वी) ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में कादम्बरी के एक अंश का उद्धरण दिया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि बारहवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के प्रमुख लेखक बाणभट्ट की कृतियों से परिचय रखते हैं। अतः बाणभट्ट का समय सप्तम शतक का पूर्वार्ध मानने में किसी प्रकार की आशंका नहीं की जा सकती।

ग्रन्थ

बाणभट्ट के ग्रन्थ विद्वत्-समाज में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रहे हैं। 'चण्डीशतक' में भगवती दुर्गा की स्तुति एक सौ स्रग्धरा पद्यों में बड़ी ओजस्विनी भाषा में की गई है। 'पार्वतीपरिणय' शिव-पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन करनेवाला नाटक है, जिस पर कुमारसंभव की छाया अत्यधिक मात्रा में पड़ी हुई है। 'मुकुटताडितक' को नलचम्पू के टीकाकार जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि बाण की रचना बतलाते हैं, परन्तु अभी तक उपलब्ध न होने के कारण हम इसका परीक्षण करने से वञ्चित हैं। सम्भव है यह किसी दूसरे बाण की रचना हो। 'हर्षचरित' संस्कृत साहित्य में सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। कादम्बरी तो बाणभट्ट की ही रचनाओं में नहीं, प्रत्युत समस्त गद्य-साहित्य का सर्वस्व है।

हर्षचरित

हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में निबद्ध हुआ है। आरम्भ के दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। गद्य लिखने में यह बाण का प्रथम प्रयास मालूम पड़ता है। भाषा इसकी उतनी मँजी हुई नहीं है जितनी कि कादम्बरी की। यह ऐतिहासिक विषय पर गद्य लिखने का प्रथम प्रयास है। काव्य की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। बाण की अलौकिक वर्णनशक्ति का परिचय हमें यहीं से उपलब्ध होने लगता है। हर्ष के जन्मकाल का वर्णन आनन्द तथा उल्लास से भरा हुआ है। प्रभाकरवर्धन के अन्तिम क्षणों का दृश्य करुणा तथा विषाद से परिपूर्ण है। हर्ष एक ओजस्वी प्रजापालक तथा वदान्य नरपति के रूप में वर्णित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्य कम नहीं है। बाणभट्ट के द्वारा वर्णित घटनाओं की सत्यता इधर उपलब्ध होनेवाले ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा शिलालेखों के द्वारा उद्घोषित की जा रही है।

कादम्बरी

कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने

कादम्बरी की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत के गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव—शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्यकाव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभाती है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अङ्क में विहार करने वाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरह-विधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोकसामान्य सौख्यों का अनुभव करने वाली गन्धर्वराज-कन्या सरलहृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। सर्वत्र ही अलङ्कारों की मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रही है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यञ्जना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है कि अलङ्कार तथा रस के मधुर-मिलन में, भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में, कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है, अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देने वाली कादम्बरी—मीठी मदिरा है पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

> कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
> मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्

समीक्षा

बाणभट्ट की काव्य-शैली

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीन काल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुष-रूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया :—

> जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
> प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

बाणभट्ट की काव्य-शैली को पाञ्चाली रीति कहना चाहिये। पाञ्चाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है। जैसे सरस अर्थ, तत्समान ही सुकुमार वर्ण-विन्यास। बाण की कविता में ललित पदविन्यास है, रचनाशैली सुन्दर है तथा नये-नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

> शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
> शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

बाणभट्ट के पात्र

बाणभट्ट में पात्रों के चरित्र-चित्रण की अद्भुत कला है। उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मंजुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति किसके हृदय में उत्साह का सञ्चार नहीं करती ? सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जावालि, वदान्य नरपति तारापीड, शास्त्र तथा व्यवहार-कुशल अमात्य शुकनाश, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीय-कलेवरा कादम्बरी—ये कवि की तूलिका से चित्रित पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। सच्चा कवि वही होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उनके उनके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है। इस कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है। कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है। बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोगविलास के जीवन को चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्वी-जीवन की मार्मिक अभिव्यञ्जना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य बात यह है कि बाणभट्ट का अनुभव बड़ा ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। उसी के बल पर उन्होंने अपना सुन्दर गद्य काव्य रचा है।

बाणभट्ट का प्रकृति-निरीक्षण

बाणभट्ट का कादम्बरी का प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मंजुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं, तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन में कृतकार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी विशेषता है कि उनकी लेखनी ने समभाव से प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में सफलता प्राप्त की है। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मंजुल अभिव्यञ्जना की है। विन्ध्याटवी के भयङ्कर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु (शङ्कर तथा वृक्ष) युक्त तथा मृगपति से सेवित है। जानकी के समान कुश-लव (कुश-लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुन्दर अगुरु और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस कामपरायणा उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जावालि के आश्रम का सात्त्विक मनोरम वर्णन पढ़ कर किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्य मूर्ति से प्रभावित नहीं होता ? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावोत्पादक बातों की आवश्यकता है उन सब

का एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम उस दृश्य को कभी नहीं भूल सकते जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध अन्ध-तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर जाने का वर्णन किया है—"परिचितशाखामृग - कराकृष्टयष्टि-निष्काश्यमान-प्रवेश्यमान - जरदन्धतापसम्।" ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय आदि प्रकृति के नाना दृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अंकित किये गये हैं।

बाणभट्ट का प्रेमवर्णन

कवि ने जिस प्रणय की यह मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहरी चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्तल को परस्पर बाँधने वाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करने वाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली-भाँति प्रतिपादित करती है।

कादम्बरी का कलापक्ष

बाण की कादम्बरी में प्रकृति के सौम्य तथा उग्र उभय रूपों का वर्णन जितना रोचक है, उतना ही रोचक है उसके नाना वस्तुओं का वर्णन। वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए और भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलङ्कारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। 'परिसंख्या' अलङ्कार के तो वे सम्राट् प्रतीत होते हैं। बाण के समान किसी अन्य कवि ने 'श्लिष्ट परिसंख्या' का इतना चमत्कारी प्रयोग शायद ही किया है। इन अलङ्कारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवन-शक्ति डाल दी है। आदर्श गद्य के जिन गुणों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है वे उनके गद्य में विशदतया वर्तमान हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

अर्थ की नवीनता, स्वभावोक्ति की नागरिकता, श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता, अक्षर की विकटबन्धता का एकत्र दुर्लभ सन्निवेश कादम्बरी को मंजुल रसपेशल बनाये हुए हैं। उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों के समान मनमोहक होते हैं—'निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।" 'रसनोपमा' का यह उदाहरण कितना मनोरम है—

'क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवयौवनेन पदम् ।"

'परिसंख्या' का यह रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है जहाँ बाणभट्ट जावालि के आश्रम का सुन्दर चित्र खींच रहे हैं :—

"यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयः परिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।"

[वहाँ केवल महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था); वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायुपुराण) में था (वायु के झोंके में कोई बकझक नहीं करता था); द्विजों (दाँतों) का गिरना बुढ़ापे में होता था (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे; क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे); जडता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं; भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नि में थी, अन्यत्र नहीं; गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था); नाचने के समय मयूरों के पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिए विशेष अनुराग न था); भोग (फण) साँपों को था, मनुष्यों में भोग नहीं था; वानरगण श्रीफल (विल्व) के अभिलाषी थे, अन्य जन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे; अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में था, मनुष्यों में नहीं ।]

कादम्बरी का हृदयपक्ष

कादम्बरी में हृदयपक्ष का प्राधान्य है । कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, अवस्था-विशेष में होनेवाली उनकी मानस वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है । पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है । चन्द्रापीड के जन्म के अवसर पर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है । चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है । बाण की दृष्टि मे प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं, प्रत्युत वह जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक सम्बन्ध का परिचायक है । कादम्बरी 'जन्मान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है । विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधनेवाली यह प्रणयकथा है बाणभट्ट ने दिखलाया हैं कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, वह संयत तथा निष्काम होता है । काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है । महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करने वाला प्रेम इस आदर्श प्रणय का सच्चा निदर्शन है ।

शुकनाश ने राजकुमार चन्द्रापीड से लक्ष्मी के दोषों के वर्णन-प्रसंग में नीति तथा काव्य दोनों का बड़ा ही रम्य चमत्कार प्रस्तुत किया हैं। रूपकों का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुन्दर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है। "लक्ष्मी तृष्णारूपी विषलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रियरूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गति हैं, सच्चरित्ररूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा हैं, यह सब अविनयों की पुरःसर पताका है, क्रोधावेगरूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है; विषय-मधुपों की यह आपान भूमि है"—यह वर्णन रूपक की छटा से कम नहीं है। अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है। कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं, लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन कवि की दूरंगमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है। महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की कामवासना का चित्रण बाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। कवि कह रहा है कि पुण्डरीक के हृदय में नये आनेवाले अतिथि मदन के लिये प्रत्युद्गमन करनेवाले रोमों का उद्गमन हो गया है। मुनि के हाथ की रुद्राक्ष की माला कम्प के कारण हिलने लगी, माने वह व्रत के भङ्ग से डर गई हो।

शैली

बाणभट्ट की शैली गद्य-कवियों के लिए आदर्शभूत है। वह प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जंगलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुल ओजोगुण से मण्डित शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया लिया है, परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीत दास नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिस बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघु-कलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं। बाण की लेखनशैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस है। जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है; छोटे-छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है। कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है—

> "सखे पुण्डरीक, नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्र-जनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विकलीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। क्व ते तद् धैर्यम्? क्वासौ इन्द्रिय-जयः?"

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है। मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है—

"लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनसमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।"

परन्तु राजवैभव, नारी की रूप छटा, प्रकृति की रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट तथा संघटित रूप में, अपने अंग-प्रत्यङ्ग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमाने तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे। शूद्रक, जावालि का आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण की गद्य शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्भुत सामञ्जस्य है।

सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णनप्रणाली, अक्षय शब्द-राशि तथा कल्पनाप्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करनेवाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाता। इसीलिए तो त्रिलोचन कवि की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम्॥

राजशेखर के मत में बाण की शैली पांचाली रीति का भव्य निदर्शन है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिला-भट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

पाञ्चाली शैली का प्राण है—वर्ण्यविषय के अनुरूप पदों का विन्यास। जैसा अर्थ वैसा शब्द। यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है, तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूपलावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित तथा कमनीय है। शब्द के ऊपर अखण्ड साम्राज्य बाण की अन्यतम विशिष्टता है। जो वस्तु एक बार कह दी गयी या पद-प्रयोग हो गया, सो हो गया। फिर उसके दुहराने की कहीं आवश्यकता ही नहीं। शब्द-दरिद्र कवि ही उन्हीं शब्दों को बार-बार रखता है, परन्तु शब्द का धनी कवि शब्द-प्रयोग में कभी कंजूसी नहीं करता। उसे कमी ही किस बात की है? इस प्रकार बाणभट्ट के वर्णन में स्निग्धता है, रुचिरता है, सुगढ़ चिक्कणता है।

उनमें कोई भी वस्तु अनगढ़ नहीं। कादम्बरी तो उस बगीचे के समान है जिसका प्रत्येक अवयव, प्रत्येक वस्तु कवि के द्वारा खूब सजाई गई है, जिसमें सुन्दर गुलदस्तों की बहार अपने रंग मे तथा अपनी महक से पाठकों का हृदय अपनी ओर बलात् खींच लेती है।

बाण संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं। शब्दों पर उनकी अद्भुत प्रभुता है, गद्य में अद्भुत प्रवाह है। कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त शरिता के समान मन्द गति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है। वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्ट में है। 'कथितपदता' तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। सर्वत्र नव पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, मंजुल भावभंगी अलोचकों के लिये विस्मयावह आनन्द का साधन बनाती है। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यञ्जना हो सकती है—इसका पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है। इसीलिये प्राचीन आलोचक धर्मदास मुग्ध होकर बाण की स्तुति में यथार्थ रूप से कह रहे हैं—

रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

———

विक्रमादित्यों की गौरव परम्परा

लक्ष्मीशंकर व्यास, एम. ए.

भारतीय इतिहास, साहित्य और लोक-मानस में विक्रमादित्य का नाम, महान् गणतान्त्रिक परम्परा, राष्ट्रीय जागरण एवं एकता, विदेशी शक्तियों के उन्मूलन तथा साहित्य, कला एवं कौशल के क्षेत्र में स्वर्ण-युग का प्रतीक बन गया है। राम और कृष्ण के पश्चात् किसी आदर्श और प्रजारंजक राजा का नाम भारतीय जनता के हृदय में सदा-सर्वदा रहा है तो वह और कोई नहीं, विक्रमादित्य ही रहे हैं। यही कारण है कि पिछली दो सहस्राब्दियों से महान विक्रमादित्य का व्यक्तित्व और कर्तृत्व भारतीय शासकों के लिए निरन्तर प्रेरणा एवं शक्ति का स्रोत रहा है। यही नहीं, विक्रमादित्य ने जिस असाधारण पराक्रम, नेतृत्व तथा संघटन शक्ति से देश को एक सूत्र में आबद्ध किया, वह परवर्ती शासकों के लिए अनुकरणीय और स्पृहणीय बन गया। विक्रमादित्य ने देश के राष्ट्रीय उद्बोधन द्वारा विदेशी शक्तियों का उच्छेदन करने में जैसी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की और जिस प्रकार शकों को सुदूर भारतीय सीमान्त तक पराजित कर भगा दिया था उसी के फलस्वरूप राष्ट्र में स्वर्णयुग का उदय हुआ। इस युगान्तरकारी ऐतिहासिक घटना ने भारतीय इतिहास की धारा ही परिवर्तित कर दी और उपस्थित कर दिया राष्ट्र में शान्ति सम्पन्नता एवं सर्वांगीण प्रगति का स्वर्णयुग। विक्रमादित्य भारतीय शासकों के आदर्श बन गये और उनके द्वारा प्रवर्तित महान गणतान्त्रिक परम्पराएँ भारतीय राजनीति का मानदण्ड बन गयीं। इसलिए विक्रमादित्य का नाम न केवल मालवगणाध्यक्ष, दिग्विजयी, प्रजा-न्यायप्रिय और साहित्य-कला के संरक्षक एवं संवर्द्धक के ही रूप में प्रख्यात रहा अपितु आदर्श शासक तथा लोक-कल्याणकारी राज्यादर्श की महान् परम्पराओं का प्रतिष्ठापक और पर्याय भी बन गया।

विक्रमादित्यों की परम्परा की नींव डालने वाले प्रथम विक्रमादित्य के आविर्भाव और अभ्युदय का इतिहास स्वर्णाक्षरों में तो अंकित हुआ ही है, जनमन पर भी उसकी अमर और अमिट छाप पड़ी है। उनके लोकरंजन और नीर-क्षीर विवेक की लोक कथाएँ, देश के कोने कोने में विख्यात रही हैं। ये जनश्रुतियां और जनगाथाएँ भारतीय साहित्य में भी लिपिवद्ध हुई हैं। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-निर्माताओं के सम्मुख विक्रमादित्य का आदर्श एक

महान् प्रेरणा के रूप में रहा है। विक्रमादित्य की ऐतिहासिक प्रसिद्धि ईसा के पूर्व ही चतुर्दिक् फैल चुकी थी। इसका प्रमाण हमें गाथा सप्तशती में इस उल्लेख से मिल जाता है।

संवाहणा सुहरस तोसिएण दन्तेण तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥

इससे स्पष्ट है कि गाथा के रचनाकाल में अर्थात् प्रथम शताब्दी में यह बात प्रख्यात हो चुकी थी कि विक्रमादित्य नाम के एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार प्रदान किया था।

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग की "पाठावली' में विक्रमादित्य की शक्ति के उदय और उसके पूर्व की स्थिति पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—उज्जयिनियों में नभोवाहन के बाद गर्दभिल्ल ने तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसके अत्याचार में क्षुब्ध हो कर कालकाचार्य ने शकों को आमन्त्रित कर उसका उच्छेद किया। शकों ने चौदह वर्ष राज्य किया तत्पश्चात् गर्दभिल्ल के प्रतापी पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर अपने पिता के राज्य को हस्तगत कर लिया। यह घटना महावीर निर्वाण के ४७० वें वर्ष अर्थात ५७ ई० पू० में हुई। प्रवन्धकोश भी इसी तथ्य का समर्थन करता है और उसके अनुसार विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० में इस स्मारक संवत् का प्रवर्तन किया।

विक्रमादित्यों की परम्परा के सम्बन्ध में 'कथासरित्सागर' में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता सोमदेव थे। इसमें विक्रमादित्य का गौरवपूर्ण प्रसंग इस प्रकार उल्लिखित है—विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे। उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य था और माता का सौम्यदर्शना। महेन्द्रादित्य शिव के परम आराधक थे और उनकी कामना पुत्र प्राप्ति की थी। उस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी, इसलिए देवगणों ने भी शिव से प्रार्थना की। शिव ने अपने गण माल्यवान को बुलाकर आदेश दिया कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए तुम मनुष्य अवतार लेकर उज्जयिनी के महेन्द्रादित्य के यहाँ उत्पन्न हो। पुत्र होने पर महेन्द्रादित्य ने शिव के सकेतानुसार उसका नाम विक्रमादित्य रक्खा। बालक विक्रमादित्य अल्पकाल में अध्ययन मनन कर सभी शास्त्रों में पारंगत हो गया और आगे चलकर महान् प्रतापी राजा हुआ। इनकी प्रजावत्सलता लोकप्रसिद्ध थी—

स पिता पितृहीनानां बन्धूनाञ्च बान्धवः।
अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत् ॥

अर्थात् विक्रमादित्य पितृविहीनों के पिता, बन्धु-रहितों के बन्धु और अनाथों के नाथ थे। प्रजा के तो वे सर्वस्व ही थे।

कथासरित्सागर के ही प्रणेता श्री सोमदेव ने उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त द्वितीय विक्रमादित्य का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। यह द्वितीय विक्रमादित्य पाटलिपुत्र का राजा था—"विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके'। इस उल्लेख से इतिहासकारों के

सम्मुख उज्जयिनी और पाटलिपुत्रके दो विक्रमादित्यों के अस्तित्व की बात प्रमाणित हो जाती है। इनमें एक था उज्जयिनी का विक्रमादित्य जो मालव-गणराज्य का अध्यक्ष था और था भारतीय इतिहास में आदर्श शासक के कर्तृत्व एवं परम्परा का प्रतिष्ठापक और दूसरा था पाटलिपुत्र का गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य।

पुराणों में भी विक्रमादित्य की गौरवगाथा अंकित है और उसका एक उल्लेख तो कथासरित्सागर से अत्यधिक साम्य रखता है। वायुपुराण में उज्जैन के गर्द्दभिल्लवंश की चर्चा आयी है। भविष्य पुराण में विक्रमादित्य का दो स्थानों में उल्लेख मिलता है—

तस्मिन काले द्विज: कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुत:।
तत्फलं तपसा प्राय: शकुन: स्वगृहं ययौ॥
जयंतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन्।
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गत:॥
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्।

आशय यह कि उस समय जयन्त नामक ब्राह्मण ने अपनी कठोर तपस्या द्वारा इन्द्र से अमरफल प्राप्त कर लिया था। इस फल को उन्होंने एक लक्ष स्वर्णमुद्रा में भर्तृहरि के हाथ बेच दिया, जिसे खाकर उन्होंने योग ले लिया और वन चले गये। तब विक्रमादित्य ने एकतन्त्र होकर उसके राज्य पर शासन किया।

विक्रमादित्य के बत्तीस पुतलियों के सिंहासन तथा वैताल की कथा भी भविष्यपुराण में ही मिलती है। कलियुग के प्रारम्भ के तीन हजार सात सौ दस वर्ष के बाद अवन्ति में प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात् क्रम से देवापी, देवदूत तथा गन्धर्वसेन हुए। गन्धर्वसेन अपने पुत्र शंखको राज्य देकर तपस्या करने वन चले गये। इनकी कठोर तपस्या से विचलित होकर इन्द्र ने उनको तपस्या भंग करने के लिये वीरमति नामकी सुन्दरी को भेजा। इसी वीरमती से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य ने शकों के संहार तथा आर्यधर्म की पुन: प्रतिष्ठा के लिए जन्म लिया। भगवान शंकर ने विक्रमादित्य को वह सिंहासन दिया जिसमें बत्तीस पुतलियाँ थीं। माता पार्वती ने सिंहासन के साथ विक्रमादित्य की रक्षा के लिए वैताल नामक गण को भेजा। विक्रमादित्य ने दीर्घकाल तक राज्य किया और विश्व-विजय के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ किया। स्कन्द पुराण कुमारिका खण्ड में अंकित है कि कलियुग के प्रारम्भ होने के तीन हजार वर्ष बाद विक्रमादित्य नामक राजा हुआ।

विक्रमादित्य ने राष्ट्रीय अभ्युत्थान एवं उत्कर्ष के निमित्त जो अलौकिक तथा असाधारण कार्य किये, उनसे भारतीय लोकमानस अत्यन्त प्रभावित हुआ और देश में नवयुग का प्रवर्तन हुआ। राष्ट्रीय जीवन में यह इतनी महान् घटना थी कि कोई इतिहासकार और विद्वान् विक्रमादित्य का गौरव उल्लेख किये बिना अपने प्रतिपाद्य की स्थापना नहीं करता था। यही कारण है कि समग्र प्राचीन भारतीय साहित्य में विक्रमादित्य का वृत्त मिलता है। जैन हरिवंश, प्रभावकचरित, पाठावली, भ◌ेश्वर सूरि विरचित शत्रुञ्जय माहात्म्य, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका,

राजावली तथा टाड कृत 'राजस्थान' में उज्जयिनी नाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक गौरवगाथाएँ मिलती हैं, जिनसे विदित होता है कि उन्होंने राष्ट्र में किन विविध महान् परम्पराओं का श्रीगणेश किया और किस प्रकार उन गणतान्त्रिक परम्पराओं ने भारतीय राजनीति तथा समाज-व्यवस्था को सहस्रों वर्षों से प्रभावान्वित किया है।

तेरहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक-अनेक ऐतिहासिक तथा चरित ग्रंथों का प्रणयन हुआ। इन में राजशेखर के प्रबन्धकोश, मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसंग्रह, इन्द्रसूरि का विक्रमचरित्र, पूर्णचन्द्रसूरि का विक्रमपंच-दण्ड प्रबन्ध, देवमूर्तिकृत विक्रमचरित्र उल्लेखनीय है। इन सभी में विक्रमादित्य की वीरता, न्यायप्रियता, प्रजाप्रेम तथा उनके राष्ट्रोत्सर्ग की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। इनमें जनश्रुति का आधार तो है ही, कुछ अंश प्रशस्ति भावना की दृष्टि से भी लिखे गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। पर इनके वर्णन का मुख्याधार ऐतिहासिक है, उसमें सन्देह नहीं।

भारतीय शासकों के सम्मुख जिन आदर्शों का प्रतिष्ठापन और जिन परम्पराओं का प्रवर्तन विक्रमादित्य ने किया उनकी झलक उनके जीवन तथा कार्यों में भली प्रकार मिल जाती है। प्रथम शक आक्रमण के समय पारस्परिक एकता के अभाव में सिन्ध, सौराष्ट्र तथा उज्जयिनी के गर्द्धभिल्ल वंश पर शकों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। विक्रमादित्य ने शकों के आक्रमण के समय भारतीय शक्तियों के आपसी संघटन की पुरानी परम्परा का लाभ उठाते हुए मालवगण के साथ राजपूताना, मध्यभारत तथा पूर्वी पंजाब के गणतन्त्रों का संघ बनाया। अभिज्ञान शाकुन्तल के भरतवाक्य में 'गणशत परिवर्तै' का उल्लेख महाकवि कालिदास ने किया है, उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य सौ गणों का नेता था। इतिहास के विद्वानों का कथन है कि 'गणशत' का अर्थ इस बात का द्योतक है कि विक्रमादित्य बहुत अधिक संख्या के गणों का नेता था। इस प्रकार गणराज्यों का संघ बना और उनका नेतृत्व ग्रहण कर विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया और उन्हें भारतीय सीमान्त में खदेड़ दिया। शकों पर विजय राष्ट्र की महान् ऐतिहासिक घटना थी, जिससे भारतीय जनता को विदेशी आधिपत्य और अत्याचार से मुक्ति मिली। इस अभियान में मालवगण के नेता विक्रमादित्य ने नेतृत्व ग्रहण किया था इसलिये उसने शकारि की उपाधि ग्रहण की। विदेशी आधिपत्य की समाप्ति के बाद राष्ट्र में नये जीवन का संचार हुआ, शान्तिसम्पन्नता का स्वर्णयुग आया। राजनीतिक उत्थान के के साथ ही राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्नति हुई। इस महान् राष्ट्रीय घटना को चिरस्मरणीय बनाने के लिए विक्रमादित्य ने 'कृत' संवत् का प्रवर्तन किया जो बाद में मालवगण स्थिति और तत्पश्चात् नवम शताब्दी के अन्त में 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रचलित हुई और आज तक समादृत एवं मान्य है। प्राचीन एवं प्रख्यात भारतीय संवतत्सरों के महान् प्रवर्तकों में विक्रमादित्य की भी गणना की जाती है—

युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनो नराधिनाथो विजयाभिनन्दनः।
इयेतु नासार्जुन मेदिनी विभुर्वली क्रयात् षट्शककारका कलौ॥

गणतन्त्र के विधान के अनुसार न तो वह कोई उपाधि ग्रहण कर सकता था और न अपने नामकरण पर संवत् का प्रवर्त्तन ही। फिर भी वह इतना लोकप्रिय था कि अनेक शताब्दियों के पश्चात् जब गणतान्त्रिक परम्पराएँ, सम्राटों के युग में निर्बल पड़ गयीं तों मालव संवत का नाम विक्रमसंवत् पड़ गया। संवत्-प्रवर्तन की जो परम्परा विक्रमादित्य ने स्थापित की उसका अनुकरण आगे के अनेक शक्तिशाली सम्राटों ने भी किया।

शकों पर गणतन्त्रों की विजय सम्बन्धी स्मारक मुद्राओं का प्रचलन कर विक्रमादित्य ने एक ओर ऐसी परम्परा की नींव डाली, पाँचवी शताब्दी में जिसका गुप्त सम्राटों ने भी अनुकरण किया। इन मुद्राओं में भी गणतान्त्रिक गौरववर्द्धन का पूरा ध्यान रखा गया है और व्यक्तिगत स्वरूप को महत्त्व नहीं दिया गया। यही कारण था कि इस स्वर्णमुद्राओं पर 'जय मालवानां' 'मालवानां मजय' तथा 'मालवगणस्य जय' का अंकन हुआ। शकों पर विक्रमादित्य की विजय का उल्लेख करते हुए कालकाचार्य कथा में यह वर्णन आया है—

शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियर्ता पिह
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्।

ये स्मारक मुद्राएँ केवल मालवगण में ही नहीं प्रचलिन हुईं अपितु राजपूताना, मध्यभारत तथा पंजाब के गणराज्यों ने भी इसी प्रकार की विजय-स्मारक मुद्राओं का प्रचलन किया।

विक्रमादित्य की विजयों तथा युद्धों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि उसने राज्य सीमा के विस्तार की भावना से युद्ध नहीं किया वस्तुतः शकों ने भारतभूमि पर आधिपत्य कर उसे युद्ध के लिए विवश किया। गौड, कर्नाट, लाट, काश्मीर, सिन्ध आदि के सहयोग से उसने न केवल शकों का पददलन किया अपितु समग्र राष्ट्र की अपनी अधीनता मान्य करायी। युद्धों में विजित होकर जब विभिन्न देशों के राजा-महाराजा उज्जयिनी लाए गये तो विक्रमादित्य ने न केवल उनका यथोचित सम्मान किया अपितु उनके राज्य भी लौटा दिये। यह तथ्य विशेष द्रष्टव्य है कि मौर्य सम्राटों ने राज्यों पर विजय प्राप्त करने के बाद केवल प्रभुता मान्य कराने से सन्तोष न किया अपितु उन्हें अपनी राज्य-सीमा में भी मिला लिया। विक्रमादित्य ने गणतान्त्रिक परम्परा को ध्यान रखते हुए ऐसा नहीं किया। उसने जितने युद्ध किये उनका मुख्य उद्देश्य विदेशी आक्रमणों को रोकना तथा शकों का देश से उन्मूलन करना था।

विक्रमादित्य ने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक अपना प्रभुत्व तो स्थापित किया ही, लंका तथा हिन्द महासागर के द्वीपों पर भी अपना प्रभाव जमाया। वृहत्कथा-मंजरी में उसका अभिनन्दन इस प्रकार किया गया है—'सत्य श्री विक्रमादित्यो जयति त्रिगगज्जयी।' इस प्रकार विक्रमादित्य और मौर्य एवं गुप्त सम्राटों की दिग्विजयों में

स्पष्ट अन्तर रहा है। प्रथम ने साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध नहीं किया और भारत के छोटे-छोटे विभक्त राज्यों का उन्मूलन किये विना ही, उनमें एकता और सहयोग के निमित्त प्रभुत्व की स्थापना की। इसके विपरीत दूसरों ने मुख्यतः साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि को ध्यान में रखकर युद्ध एवं आक्रमण किये। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मौर्य और गुप्त सम्राटों को तो सामान्य जनता ने कभी का विस्मृत कर दिया किन्तु विक्रमादित्य को सहस्रों वर्षों से अब तक अपने हृदय सिंहासन पर आसीन रखा है। महान् विजयों के पश्चात् भी विक्रमादित्य ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया। ऐसे अभ्युदय एवं उत्कर्ष के बाद भी विक्रमादित्य के नाम के पहले कोई राज्य-सत्तात्मक सूचक शब्द का प्रयोग नहीं होता था। कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल की प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में उल्लेख आता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद में हुआ था. सूत्रधार कहता है—'आर्ये इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्।' यहाँ विक्रमादित्य के साथ कोई राजतान्त्रिक उपाधि नहीं। यह साभिप्राय है। विक्रमादित्य सम्राट या राजा नहीं थे अपितु गणमुख्य थे। जिस प्रकार उन्होंने देश में राष्ट्रीय उत्थान किया, उसी प्रकार साहित्य और कलाओं का संवर्द्धन भी। विक्रमादित्य की सभा में साहित्य, कला, आयुर्वेद तथा विविध कलाओं के आचार्य विद्यमान थे। ज्योतिर्विदाभरण में विक्रम के नवरत्नों का उल्लेख हुआ है—

> धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंह-शंकु-वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

विक्रमादित्य की इसी विश्रुति के कारण परवर्ती शक्तिशाली सम्राटों ने 'विक्रमादित्य' को उपाधिरूप में ग्रहण किया। विक्रमादित्यका नाम आदर्श एवं पराक्रमी राजा का प्रतीक एवं पर्याय बन गया था। इसे धारण कर बड़े बड़े शक्तिशाली राजे-महाराजे गौरव का अनुभव करते थे। प्राचीन भारतीय राज्यादर्श का मापदण्ड विक्रमादित्य था और सभी उसका अनुगमन करना अपना परम एवं पुनीत कर्तव्य समझते थे। पाँचवी शताब्दी में गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की। स्मरणीय है कि विक्रमादित्य कोई उपाधि नहीं थी अपितु विक्रमादित्य नाम था। पर इस नाम में ऐसा जादू था कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे प्रतापी और पराक्रमी सम्राट ने इसे उपाधि रूप में ग्रहण किया तथा प्राचीन इतिहास-विश्रुत विक्रमादित्य के चरण चिह्नों पर चलने का यत्न किया।

पाँचवी शती के पूर्वार्ध में जब विदेशी शक्तियों ने पाटलिपुत्र सम्राट की विवाहिता ध्रुवदेवी को सौंपने का आदेश दिया तो चन्द्रगुप्त द्वितीय की धमनियों का रक्त आक्रोश से खौल उठा। जिस कुशलता और दूरदर्शिता से उसने शक राजा का वध किया और उसकी शक्ति को समूल उखाड़ फेंका, यह भारतीय इतिहास का सुनहरा पृष्ठ है। देश में राजनीतिक संघटन एवं एकता के लिए उसने तत्कालीन प्रतिद्वन्द्वी वाकाटक राजशक्ति से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। देश के पश्चिमी सीमान्त से विदेशी शक्तियों का उन्मूलन कर

समुद्रतट के व्यापारिक बन्दरगाह को अधिकृत कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने देश में शान्ति और समृद्धि का स्वर्णयुग उपस्थित किया। राजनीतिक सुदृढता ही नहीं, सामाजिक रूढियों को भी उसने विधवा-विवाह अथवा पुर्नाविवाह-द्वारा सुधार की नवीन दिशा प्रदान की। साहित्य और कला का चतुर्दिक् विकास हुआ और रोम की स्वर्ण मुद्राएं भारत में प्रभूत मात्रा में आने लगीं। स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने स्वर्ण और रजत मुद्राओं का प्रचलन किया और उनके मानदण्ड को स्थिर किया। इस दिशा में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की विशेष देन है इसमें सन्देह नहीं।'

कश्मीर के महाकवि बिल्हण ने 'विक्रमांकदेव-चरित' नामक महाकाव्य का सन् १०८५ में प्रणयन किया है। इसके १७ वें सर्ग में नायक चौलुक्य विक्रमादित्य का विशद वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णी का उल्लेख भी मिलता है जिसने शकों के अतिरिक्त छहरात, अवन्ति, आकारादि अनेक प्रान्तों पर आधिपत्य स्थापित किया। संक्षेप में इन सभी विक्रमादित्यों ने उज्जयिनी के विक्रमादित्य के आदर्शों तथा चरणचिह्नों पर अपने युग की परिस्थितियों के अनुरूप चलने का यथाशक्ति प्रयत्न कर राष्ट्रीय उत्कर्ष दिया और विक्रमादित्यों की गौरवशाली परम्परा का रक्षण एवं संवर्धन किया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शिक्षा

केशवचन्द्र मिश्र

आचार्य कौटिल्य महान् राजशास्त्रवेत्ता, व्यावहारिक एवं धुरंधर राजनीतिज्ञ, प्रकाण्ड विद्वान्, आस्तिक एवं वर्णाश्रम के अध्वयु प्रतिपालक, लोकनीति-विशारद तथा विलक्षण दार्शनिक तो थे ही, वे एक उदात्त जीवन-सम्पन्न अध्यापक भी थे। शरीर, आत्मा एवं कर्त्तव्य सभी रूपों में वे जीवन को कर्त्तव्यों का स्रोत तथा लोकोत्तर जीवन का आधार मानते थे। फलतः शिक्षक के रूप में उनका अभिमत स्पष्ट था कि सम्यक् जीवन का साँचा किसी देश की सम्यक् शिक्षा-व्यवस्था ही है। जिस प्रकार अरस्तू सिकन्दर के लिए शिक्षक एवं आचार्य था, भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार, आचार्य चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के निर्माता, शिक्षक एवं गुरु थे। तक्षशिला के महान् एवं एशिया के विश्रुत विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी एवं वहीं आचार्य पद पर अधिष्ठित भी हुए थे। भारतीय जीवन का उनके समक्ष एक मानचित्र था। जिन गुणों, प्रतिभाओं एवं चरित्रों से विभूषित होना प्रत्येक भारतीय नरेश एवं नागरिक के लिए आवश्यक है उनका उन्होंने असंदिग्ध मानदण्ड स्थिर किया था। अपने जीवन-द्वारा तथा अपने ग्रंथों के माध्यम से उसका उन्होंने भाष्य किया तथा कार्यों के द्वारा चरितार्थ कर के सदा के लिए उदाहरण बना दिया। राष्ट्र के दिव्य तथा ओजःपूर्ण जीवन का आधार उन्होंने शिक्षा को ही माना था।

खेद है कि अपने ग्रंथ में शिक्षा पर उन्होंने कहीं एक स्थल पर सांगोपांग रूप से विचार नहीं किया है, जिससे उस समुन्नत भारत के; जिसके निर्माण की विभुता उनके मुखर व्यक्तित्व से प्रगट हुई थी, आधारभूत तद्युगीन शिक्षा-व्यवस्था का पूरा परिचय ज्ञात किया जा सके। किन्तु अर्थशास्त्र में बिखरे उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को सम्मिलित करने पर, उसका एक व्यवस्थित स्वरूप अवश्य उपस्थित हो जाता है। यहाँ उसी को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

परिस्थिति एवं वातावरण

कौटिल्य का मत था कि कर्त्तव्य-चेतना देश के जीवन का प्रधान लक्षण है। जिस राज्य में नियम के प्रति आदर, उनके परिपालन तथा कर्त्तव्य-निष्ठा का उत्तम भाव जागरित नहीं है, ऐसे राज्यों एवं राज्य-संघों से कोई भी आशा नहीं की जा सकती।

मेधाच्छन्न तथा बिखरते हुये तत्कालीन भारत को पुनर्जीवित करने के लिए जब कोई राजपुरुष, सम्राट तथा नायक सोच भी नहीं रहा था, तो विश्वविद्यालय की पृष्ठभूमि से उठकर उन्होंने उसका सम्यक् दायित्व लिया। उनके समक्ष समस्यायें तीन थीं—(१)-विदेशियों से देश की रक्षा, (२)-भारत में एक शक्तिशाली सार्वभौम राज्य की स्थापना, (३)-शक्तिशाली, समृद्ध, सनातनत्व के रिक्थ से ओत-प्रोत भारतीय संतति को पुनः प्रतिष्ठित करना। इसके लिए उन्होंने दो कार्य किये। प्रथमतः तो आर्य जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, आचारगत तथा धार्मिक पक्ष का उत्तमोत्तम प्रभाषण किया तथा उसका एक स्पष्ट स्वरूप रखा—शासक, प्रशासक एवं प्रजावर्ग, सबके लिए। दूसरे उन्होंने यह स्थापना की कि इस उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करने के लिए मानवीय प्रयत्न ही साधन है। इन मानवीय प्रयत्नों को प्रणालीबद्ध करना एवं प्रेरित करना शिक्षा का दायित्व है। सभी ऐश्वर्यों के मूल में वे राज्य को तो मानते थे किन्तु राज्य के मूल में शिक्षा को ही मानते थे। सारी दण्डनीति (राजनीति) (शिक्षा के आधार पर टिकी है।[1]

आचार्य कौटिल्य किसी भाग्यवादी दर्शन को नहीं मानते थे। वे मानते थे कि इतिहास मानवीय बुद्धिमत्ता की अभिव्यक्ति है और विजयश्री उन्हीं को वरण करती है जो परिस्थिति को यथास्थिति में रखकर देखते हैं इसीलिए उन्होंने समाज के विश्लेषण और उसके संगठन में वर्णाश्रम को भी धर्मवादी प्रक्रिया से हटाकर शुद्ध तार्किक शैली पर प्रतिष्ठित किया। सामान्यजन के प्रयत्नों की जागृति और सामाजिक तथा राजनीतिक क्षमताओं के लौकिकीकरण की चेष्टा उनमें पाई जाती है। फिर भी उनकी आस्था भौगोलिक और स्थानीय घेरे से परे होकर महत् और सार्वभौम आकांक्षाओं से ओत-प्रोत, आध्यात्मिक भाव में बद्धमूल थी। मनुष्य में आध्यात्मिक प्रतिष्ठा का आधार भी उन्होंने शिक्षा को ही माना। उत्तम शासन हेतु राजा तो हैं ही, प्रजा भी है। उसकी प्रगुणता यदि स्थिर है एवं भ्रष्ट नहीं है, तो देश के दुर्बल शासक को भी कोई शत्रु च्युत नहीं कर सकता। प्रजा की ऐसी व्यापक प्रगुणता का नियोजन आधार देश में प्रचलित शिक्षा ही है।

आचार्य चाणक्य ने शिक्षा को जीवन के आधारों एवं महान् कार्यों के सम्पादन का सर्वत्र एवं सभी परिस्थितियों में सुलभ मार्ग बतलाया है। एक सार्वकालिक सत्य के रूप में और विशेष रूप से उस युग की समस्याओं के समाधान के लिए उन्होंने नय और अनय, सहज एवं आरोपित अनुशासन, धर्म एवं अधर्म तथा उचित एवं अनुचित के बीच स्पष्ट भेद किया और सबके लिए दायित्वों के निर्धारण का मूल शिक्षा को माना। सांसारिक समस्त सुखों का अनुष्ठान तथा स्वर्गीय एवं अनंत आनन्दों का उद्गम इन्द्रिय-संयम में है। अतः जो यह संयम नहीं कर सकता, समस्त पृथ्वी को प्राप्त करते हुये भी उसका

---

१. विनयमूलो दण्डः—अर्थ—अधि १, प्रक १, अध्याय ५,

शीघ्र ही नाश हो जायगा[1]। गुरुकुलों के इसी उत्कृष्ट वातावरण को शिक्षार्थियों की मनोदशा की वे प्रेरक शक्ति बतलाते हैं। एक दार्शनिक होते हुये भी वे केवल दार्शनिक विवादी नहीं थे, उनके समक्ष किसी पद्धति विशेष का उद्घाटन कोई समस्या नहीं थी। समस्याओं के पारतक जाने तथा राष्ट्र को ले जाने के एक सार्वभौम, पुष्ट तथा क्रियाशील मार्ग की रचना का अभूतपूर्व कार्य था। अतः शिक्षा को उन्होंने अजस्र शक्ति-स्रोत तथा केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित माना। उसे एक ऐसी नाडी मानते थे, जहाँ से राष्ट्ररूपी पुरुष के शरीर एवं मन के स्वास्थ्य का सम्यक् ज्ञान सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा को राष्ट्र की अन्यान्य जीवन-विद्याओं के बीच जिस महत्तम कोटि में वे देखना चाहते थे, उसका पूरा दायित्व वह शासक पर डालते हैं। शासक का ही यह पुनीत कर्तव्य है कि इस महत्तम अवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने में सदा सजग रहे क्योंकि शिक्षा स्वयमेव राजदण्ड-द्वारा प्रदत्त निर्लिप्त वातावरण पर टिकी है।

उद्देश्य

आचार्य चाणक्य ने शिक्षा के उद्देश्य पर विस्तृत रूप से विचार किया है। सामान्य उद्देश्य के रूप में ज्ञान और शिक्षा (विनय) को उन्होंने इन्द्रिय को जीतने का आधार माना है[1]। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे इन्द्रिय-जय की सिद्धि अपने आप में अवश्यमेव हो जाय। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष (इच्छापूर्ति पर सुखका अनुभव) के त्याग, की जिससे इन्द्रिय-विजय सुलभ होती है, क्रिया क्रमशः पूरी हो। समस्त शास्त्रों में प्रतिपादित विषय, चाहे शास्त्र लोक-जीवन को या पारलौकिक विभुता को समृद्ध करनेवाले हैं, इन्द्रियजय के कारण और साधन हैं। उनका निरूपण शिक्षा-निकेतनों में ऐसा होना चाहिए कि शिक्षार्थी का जीवन मन-नियम-संयम से तेजस्वी बन सके।

शास्त्रों का अध्यापन शिक्षा का मुख्य प्रकरण बनना चाहिए जिससे जीवन का वास्तविक न्यास किया जा सके।

जीवन का उनके समक्ष एक स्पष्ट स्वरूप था, वह है आश्रम-जीवन में विभाजित भारतीय स्वरूप। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास को वे मानव-जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान मानते थे, जहाँ स्वेच्छया व्यक्ति एवं उसके द्वारा समाज का नियमन होता रहता है। ब्रह्मचर्य विभाग को वे शेष तीन विभागों के लिए साधनावस्था मानते हैं जब उनके लिए तैयारी होती है। अतएव ब्रह्मचर्य-जीवन शिक्षा का वास्तविक काल है अर्थात् जीवन और जीवनेतर के सारे संकल्प, अनुष्ठान और प्रवृत्यात्मक जीविका-ग्रहण की प्रवीणता वहीं प्राप्त की जानी चाहिए। आचार्य कौटिल्य की मान्यता है कि शिक्षा को इन सबका दायित्व सामान्य रूप से लेना ही चाहिए।

---

१. अर्थ-प्रक ११, अ-१

१. स्वकर्मजीवः ऋतुगामित्वं देवपित्रातिथिषु त्यागः शेषभोजनञ्च (अर्थ० अ० ३, प्र० १ अधि-१

गार्हस्थ्य-जीवन के लिए अभिमत देते हुये उन्होंने बतलाया है—अपने धर्म के अनुसार जीविकार्जन, ऋतुकाल में स्त्री के साथ सहवास, देवता, पितर, अतिथि तथा सेवकों को देने से बचे अन्न का भोजन करना, यही उसका स्वरूप है। जीवन का यह द्वितीय भाग जगत् के लिए था और साथ ही त्यागमय रूप के कारण परार्थ भी था। दोनों पर समान रूप से आग्रह उन्होंने किया है। जीवन का तीसरा उत्थान वानप्रस्थ है। इसे आचार्य ने समष्टिगत जीवन में प्रवेश एवं संन्यास की भूमिका रूप में प्रतिष्ठित किया है। ब्रह्मचर्य, भूमि-शयन, जटा-मृगचर्म धारण, अग्निहोत्र, त्रिकाल स्नान, देवताओं, पितरों, अतिथियों का पूजन, वनप्रदेश से प्राप्त कन्द-मूल-फल के आहार से संयमित जीवन व्यतीत करते हुये मनुष्य लोक-सम्मत एवं लोकहित के कार्यों में ही निरत रहे। स्व को समग्र के लिए चरितार्थ करने का, सार्वभौम एवं प्राणी मात्र के लिए विग्रह बनने का उद्देश्य ही इस आश्रम का अनुशेष है। चौथे विभाग में समस्त कर्मों को सन्यस्त कर विशुद्ध पारमार्थिकता की ओर अग्रसर होना, जीवन का लक्ष्य बन जाता है। कौटिल्य ने उसका विवेचन करते हुए प्रकट किया है कि इन्द्रिय-संयम, कर्म-फल त्याग। किसी भी वस्तु में आत्मभाव का परि याग, लोकशक्ति का भी त्याग, अनेक घरों में भिक्षाटन, वन में निवास तथा मन-वचन-कर्म में वाह्य तथा आभ्यन्तर शुचिता—ये सब जीवन के अंतिम आश्रम के विदित धर्म और लक्ष्य है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य कौटिल्य ने इन तीनों को जीवन की सम्यक् तैयारी शिक्षा का सामान्य गुण एवं लक्ष्य माना है। इनमें से किसी एक की भी शिथिलता जीवन को अपूर्ण एवं असामाजिक बना देती है। इस रूप में शिक्षा को उन्होंने सर्वांगीण रचना का केन्द्र-बिन्दु माना है।

शिक्षा के सामान्य दायित्वों में ही उन्होंने अहिंसा, सत्य, कार्य-वचन-मन की शुद्धि, परदोष-दर्शनाभाव (गुणपक्षपातित्व), दयालुता, क्षमा आदि गुणों का शिक्षार्थी में पल्लवन अनिवार्य माना है। क्योंकि ये गुण ही जीवन के सभी आश्रमो, सभी क्षणों में चरित्र बनकर विकसित होते हैं।

ज्ञान के प्रति भारतीयों की एक सनातन मान्यता है। विमर्शरूपिणी विद्या—अर्थात् विवेक-बुद्धि एवं समीक्षा की भावना ही शिक्षा का अंतर्भूत सार है। शिक्षा के माध्यम से प्राप्त सभी प्रकार के ज्ञान यदि इस सनातन ज्ञान-धारा को शक्ति नहीं प्रदान करते हैं, तो वे विनाश का सृजन ही करेंगे। आचार्य कौटिल्य का अभिमत है कि व्यायाम तथा भारतीय अर्थों में धर्म अविरुद्ध जीवन की स्थापना ही शिक्षा का सहज उद्देश्य होना चाहिए। सम्पत्ति एवं सभी प्रकार के विभव का आधार धर्म है तथा भोग संपत्ति का अंत हैं।

---

१. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूया नृशंस्त्र क्षमा च। (वही)

२. धर्ममूलत्वात कामफलत्वात अर्थस्य धर्मार्थकामानुबन्धस्य अर्थस्य सिद्धिः सर्वार्थसिद्धिः (अर्थ-प्रक०१५, अध्याय ३)

अतएव धर्म को उन्नति करने वाली सम्पत्ति के संग्रह में ही जीवन का सर्वांगीण उज्वल भविष्य निहित है ? इसी की प्रस्थापना शिक्षा का मुख्य कार्य है।

शिक्षा के क्षेत्र को केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही कौटिल्य ने सीमित नहीं माना है। उन्होंने उसे सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्शों के लिए निष्पक्ष विनियोजक भी माना है। आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम उन्होंने स्थापना की कि राजनीति एवं अर्थ दोनों में नैतिक साधनों से अकलुष धर्म की व्याप्ति तथा उसका अनुशासन लोकमंगल के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका आधार आत्मसंयम को उत्कृष्ट करने वाली शिक्षा है।

शिक्षा का उद्देश्य उन्होंने कोरा पाण्डित्य नहीं माना है, क्योंकि ज्ञान को वे साध्य नहीं मानते हैं। पाण्डित्य तथा ज्ञान आत्म साक्षात्कार का साधन मात्र है। शिक्षा का दायित्व उससे भी गुरुतर है। उसे ज्ञान एवं पाण्डित्य को व्यक्ति के जीवन में उतारने का उपक्रम करना चाहिए। मानसिक आवेगों के ऊपर यदि मनुष्य रथी बनकर सहज आरूढ नहीं हुआ, तो वह उसकी शिक्षा फलप्रद नहीं हुई।

राजाओं एवं शासकों के लिए भी शिक्षा की चर्चा करते हुये आचार्य कौटिल्य ने उसके मौलिक उद्देश्य पर ही विशेष रूप से आग्रह रक्खा है। वे कहते हैं, यद्यपि स्वामी को आन्वीक्षिकी (दर्शन), त्रयी (वेद), वार्ता (अर्थशास्त्र) और दण्डनीति (राजनीति) में शिक्षित होना चाहिए, फिर भी उसकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य इन्द्रिय-निग्रह ही है।[1]

वर्तमान शिक्षा-शास्त्रियों ने जिसे इन्द्रियों का नियमन (ट्रेनिंग ऑफ सेन्सेज) कहा है, आचार्य कौटिल्य शिक्षा का दायित्व उससे भी गहराई में ले जाते हैं। क्योंकि इन्द्रिय-निग्रह ही शिक्षा का वास्तविक दायित्व है, उसकी प्रक्रिया में ऐसी पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए कि शिक्षार्थी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में अनासक्ति का तेज क्रमशः प्रवाहित होने लगे। वर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध स्वरूप पाँच विषयों का योग होता है। इन पाँचों में अनासक्ति भाव ही इन्द्रिय-जय है।[2] इन्द्रियों का ऐसा प्रशिक्षण एवं परिष्करण शिक्षा-द्वारा होना चाहिए।

आचार्य ने उपर्युक्त स्वरूप को ही शिक्षा का नैसर्गिक उद्देश्य बताया है। विशेष उद्देश्य की ओर इंगित करते हुये उन्होंने अभिप्राय प्रगट किया है कि शिक्षा का नैसर्गिक उद्देश्य सफल होने पर विशेष उद्देश्यों की सिद्धि अपने आप हो जाती है। कला, शिल्प, दण्डनीति, सर्वदर्शन, चौसठ कलाओं तथा समस्त शास्त्र जो ज्ञान एवं विद्या के विस्तृत

---

१. धर्ममूलत्वात् कामफलत्वात् अर्थस्य धर्मार्थकामानुबन्धस्य अर्थस्य सिद्धिः सर्वार्थसिद्धिः।
(अर्थ प्रकरण १५, अध्याय ३.)

२. कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शस्वरूपरसगन्धविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः शास्त्रानुष्ठानं वा।

(अर्थ० अध्याय ६, प्रकरण ३, अधि १)

क्षेत्र हैं; सभी सचरित्रता के साहचर्य से ही व्यक्ति तथा समाज के लिए लोकमंगलात्मक हो सकते हैं। उन सभी विद्याओं में प्रवेश भी इन्द्रिय-निग्रह-द्वारा ही संभव है।[1]

शिक्षा का उद्देश्य शरीर, मन, कर्म में शुधिता तथा विनयशील के उन्नयन द्वारा शिक्षार्थी में पात्रता उत्पन्न करना भी है। छात्र में यह विनय स्वभाविक ही होता है। उसे विकसित होने का अनुकूल अवसर एवं वातावरण प्रदान किया जाना चाहिए। किन्तु विनय की कुछ ऐसी क्रिया भी है जिसका शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा छात्र में समावेश कराना चाहिए।[2] इस प्रकार उद्योग परिश्रम द्वारा तथा उपचार प्रक्रिया द्वारा विनयशील का सृजन छात्र में किया जाना चाहिए।

पाठ्यक्रम

आचार्य कौटिल्य ने भारतीय अन्य आचार्यों की भाँति त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम की महत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार उन्होंने पार्थिव जीवन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये, आध्यात्मिक श्लाघा को ऊँचा स्थान दिया है। त्रिवर्ग सिद्धान्त को धुरी मानकर उन्होंने जीवन का निरूपण किया है। और उसके ही अनुसार विद्या अर्जन के विविद विषयों का विवेचत किया।। इस सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति के लिए आध्यत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। इसके लिये धार्मिक एवं नैतिक कर्त्तव्यों का परिपालन करते हुए शक्ति, सम्पत्ति, जीविका (अर्थ) का संयोजन होना चाहिए। अपनी प्राकृतिक इच्छाओं (काम) एवं एषणाओं की परितृप्ति भी धार्मिक नैतिक साधनों के साथ अर्जित पवित्र अर्थ साधनों से ही करना चाहिऐ। व्यक्ति और समाज, सत्ता और राष्ट्र तथा लोक और लोकोत्तर जीवन की विभूता जब त्रिवर्ग सिद्धान्तानुसार सिद्ध हो, तभी चतुर्थ पदार्थ मोक्ष, जीवन के उच्चतम उद्देश्य के रूप में हस्तगत हो सकता है। अन्य आचार्यों ने त्रिवर्ग को स्वीकार करते हुए भी विद्याओं के वर्गीकरण में सूक्षमता तथा वैज्ञानिक अंतर्द्दष्टि का ध्यान नहीं दिया हैं। कुछ ने तो एकांगी अथवा अधूरे विवेचन द्वारा ही ज्ञान का वर्गीकरण कर दिया है। आचार्य कौटिल्य ने अपने पूर्वाचार्यों में से ऐसे कुछ मतों की भी चर्चा की है।

आचार्य शुक्र (औशनस) के अनुयायी केवल दण्डनीति (राजनीति) को ही विद्या मानते हैं।[3] उनके अनुसार सभी विद्यायें दण्डनीति के भीतर ही निहित हैं। तात्पर्य यह कि राज्य व्यवस्था सुभम होने पर भी सभी प्रकार की विद्याओं, रचनाओ और शिल्प-कलाओं का व्यवहार- उन्नयन, अध्ययन, अध्यापन स्वतः हो जाता है। अतः इनका मत है कि विद्या के रूप में दण्डनीति का अध्यापन ही सबके लिये विशेषतया राजपुरुषों के लिए पर्याप्त है।

---

१. (अर्थं० अध्याय ६, प्रकरण ३, अधि० १)

२. कृतकः स्वाभाविकश्च विनयः

(अर्थं—अध्याय—५ प्रकर—२, अधि—१)

३. दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः (अर्थं० अध्या० ५, प्रक० २, अ० १)

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि आचार्य वृहस्पति के अनुयायी वार्ता और दण्डनीति दो ही को विद्या मानते हैं। उनके अनुसार त्रयी तो दुनियादारय लोकयात्रा-विज्ञ) अर्थात् लोकायतिक (नास्तिक जीवनवाले) लोगों की आजीविका का उपादान मात्र है।[१] तात्पर्य यह कि त्रयी को वे आवरण मात्र, अर्थात् नास्तिकता आदि निन्दाओं को अपनी रक्षा करने के लिये एक साधन समझते हैं। अतएव उनका मत है कि त्रयी को एक स्वतन्त्र विद्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

मनु के अनुयायी तीन प्रकार की विद्याएँ मानते हैं—त्रयी, वार्ता, दण्डनीति। वे आन्वीक्षिकी को त्रयी विद्या के ही अन्तर्गत मानते हैं।[२]

किन्तु आचार्य चाणक्य ने चार वर्गों में विभाजित किया है। उनकी प्रतिष्ठा करते हुए उन्होंने कहा है कि आन्विक्षिकी (अध्यात्म-विद्या अथवा हेतु-विद्या), त्रयी (ऋक्, यजुः तथा सामवेदात्मक विद्या), वार्ता (कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य-विद्या), दण्डनीति (राजविद्या), ये चार प्रकार की विद्याएँ होती हैं।[३]

आचार्य शुक्र, वृहस्पति एवं मनु के अनुयायियों के विचारों का समन्वय करते हुए ज्ञान का और वैज्ञानिक विभाजन करके चाणक्य ने उपर्युक्त चारों को विद्या का वास्तविक क्षेत्र माना है।[४] मनुष्य के लिए संग्रहणीय और सीखने लायक वे समस्त ज्ञान हैं, जिनसे जगत् जगदितर जीवन का जीवन-पोषण हो सके। उसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने कहा है कि सब विद्याओं का विद्यात्व इसी में है कि उनसे धर्म (कर्त्तव्य) और अधर्म (अकर्त्तव्य) का ज्ञान हो। अतः इन चारों के बिना न धर्म-अधर्म का और न इहलोक-परलोक तथा उन्नति के साधनों का ज्ञान हो सकता है।[५]

पाठ्य विषयों का सम्यक् तथा विस्तृत विवेचन करते हुए आचार्य कौटिल्य ने स्थापना की है कि इन्हीं चार विद्याओं में जगत् के समस्त ज्ञान-विज्ञान सन्निविष्ट हैं। गुरुकुलों एवं विश्वविद्यालयों में इन्हीं की शिक्षा की व्यवस्था, विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत कर दी गई थी। इनके व्यापक स्वरूप, विशेषता, गुण और क्षेत्र पर भी पूर्णरूपेण विचार किया गया है।

आन्वीक्षिकी

आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत सांख्य-शास्त्र, योग-शास्त्र एवं लोकायत-शास्त्र (नास्तिक दर्शन) आते हैं। आचार्य कौटिल्य के अनुसार यह विद्या अन्य सब विद्याओं की

---

१. वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः।
२. त्रयीवार्तादण्डनीतिश्चेति मानवाः।
३. आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिश्चेति विद्या (वही)।
४. चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। (वही)
५. ताभिर्धर्माधर्मो यद्विद्यात्तद्विद्यं न विद्यात्वम्। (वही)

सार्थकता और निरर्थकता हेतुवादी आधार पर सिद्ध करती है। इस प्रकार यह संसार का बड़ा ही उपकार करती है। त्रयी आदि विद्याओं की यथास्थान क्या प्रधानता और अप्रधानता है, यह आन्वीक्षिकी-द्वारा विभिन्न युक्तियों से निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार वह लोकमंगल का विधान करती हैं; सुख-दुःख (सम्पति-विपत्ति) में बुद्धि को स्थिर रखती हैं; सोचने-विचारने, चिन्तन, विवेचन और भावभिव्यञ्जना में बुद्धिमत्ता, वाक्यचातुरी और कार्य-सम्पादन की वास्तविक क्षमता प्रदान करती है[१]। अतएव इसका अध्यापन आवश्यक है। उन्होंने प्रतिपादित किया हैं कि आन्विक्षिकी एक विज्ञान है, और समस्त ज्ञानो में प्रकाशपुञ्ज अर्थात् दीपक है। यह सभी कार्यों का साधक है, सभी कर्मों–वैदिक एवं लौकिक का पोषक एवं आश्रयस्वरूपा है[२]।

आन्वीक्षिकी उस विज्ञान का बोध कराती है, जिसे अध्यात्म-विद्या कहते हैं, जिसका क्षेत्र सूक्ष्म तथा गहन अंतदर्शन है।

त्रयी विद्या

त्रयी विद्या का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसके ज्ञान का सम्बन्ध धर्म और अधर्म (कर्त्तव्याकर्त्तव्य) के प्रतिपादन करते हुए आचार्य चाणक्य ने बतलाया है कि इसमें ऋक्, यजु एवं साम—ये तीनों वेद आते हैं। यों अथर्ववेद तथा महाभारतादि इतिहास भी वेद के ही पर्याय माने जाते हैं। शिक्षा (वर्णों के उच्चारण आदि का प्रवर्तक शास्त्र), कल्प (यज्ञादि के अनुष्ठान-संबंधी नियमों का उपदेशक शास्त्र), व्याकरण (शब्दानुशासन), निरुक्त (शब्द-निरूपण का शास्त्र), छन्द (छन्दों का प्रतिष्ठायक शास्त्र) तथा ज्योतिष शास्त्र—ये षट् शास्त्र वेदाङ्ग (वेदों के ही अनुभाग) हैं।[३]

कौटिल्य का उद्देश्य राजकुमारों की शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करना था। इसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने बतलाया है कि राजकुमारों के लिए प्रथम क्रम का पाठ्य विषय त्रयी एवं आन्विक्षीकी है। उनके लिए द्वितीय क्रम का पाठ्य विषय वार्ता है। उनके तृतीय क्रम का पाठ्य विषय दण्डनीति (राजनीति) है।

वार्ता विद्या

वार्ताविद्या पार्थिव जीवन के साधनों से संबंध रखती है। इसके अन्तर्गत आचार्य ने अर्थ तथा अनर्थ का विवेचन किया है[४]। इसके ही भीतर सभी प्रकार के उद्योग,

---

१. अर्थ, अध्याय–२, प्रक०–१, अधि–१।

२. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्, आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिका मता (वही)।

३. धर्माधर्मा त्रय्याम्। (वही)।

१. अर्थानर्थो वार्तायाम् (अर्थ, अध्याय २, प्रक० १ अधि० १)

वाणिज्य, शिल्प, प्रविधि आदि ज्ञान समाविष्ट होते हैं[1]। आचार्य कौटिल्य ने इस विद्या का सम्यक् परिचय देते हुये कहा है कि वार्ताविद्या धान्य, पशु, सुवर्ण, कुप्य (सुवर्ण-चाँदी, ताम्र आदि जैसे धातु तथा साखू आदि वास्तु काष्ठ और सभी प्रकार के तैजस द्रव्य) तथा विष्टि (सभी प्रकार की कलायें एवं शिल्प) प्रदान कर सबका उपकार करती है[2]।

सभी शास्त्र तो पढ़े ही जायें, किन्तु उनमें अर्थ की विशेषता होने के कारण वार्ता का विशेष अध्ययन होना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि अर्थ ही प्रधान वस्तु है—अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। धर्म तथा काम अर्थ पर ही निर्भर करते हैं।

दण्डनीति विद्या

दण्डनीति विद्या राजनीति का बोध कराती है। परन्तु यह राजनीति से भी व्यापक है। इसके द्वारा मुख्यतया शासन की विधियों का ज्ञान होता है, परन्तु इससे न्याय और अन्याय (सुशासन तथा कुशासन) के आधार, परिणाम, तथा उनके सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन होता है[3]। चाणक्य ने इसे आधार विद्या का स्थान दिया है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता इन तीनों विद्याओं को प्राप्त करने का साधन दण्डनीति, (राजनीति) है। दण्डनीति अप्राप्त को प्राप्त, प्राप्ति की रक्षा, रक्षित वस्तु की वृद्धि, वृद्धि को उपयुक्त पात्र के लिए उपभोग्य बनाती है।

यही नहीं, लोकयात्रा (सभी प्रकार का सामाजिक व्यवहार) इस दण्डनीति पर ही निर्भर करती है।[4] आचार्य कौटिल्य ने इस प्रसंग में सावधान करते हुये बतलाया है कि इस ज्ञान का प्रयोग बहुत समझ बूझ कर किया जाना चाहिए। यदि ठीक से समझा और प्रयोग किया गया तो प्रजा को धर्म, अर्थ काम से परिपूर्ण कर देता है। इस विद्या का दायित्व भी महत् है। इसी की छाया में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोग अपने धर्म-कर्म में निरत रहकर व्यवस्थित और स्वधर्म पर आरूढ रहते हैं।[5]

विषय पिभाजन की प्रक्रिया

किस ज्ञान का अध्येता कौन बने अथवा कौन सी विद्या किस व्यक्ति के लिए है; इस सम्बन्ध में भारत के प्राचीन आचार्यों ने बहुत विचार किया है। आचार्य चाणक्य ने इस

---

१. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (अर्थ, अध्याय–४, प्रक–१, अधि–१)
२. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। (अर्थ, अध्याय–४, प्रक–१, अधि–१)
३. नयानयौ दण्डनीतिम् (अर्थ, अध्याय–२, प्रक–१, अधि–१)
४. अलब्धलाभार्थी लब्धापरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी वृद्धस्त तीर्थेषु प्रतिपादिनी च। (अर्थ अध्याय २; प्रक—१ अधि—१)
५. तस्यामायत्ता लोकयात्रा। (वहीं)

सम्बन्ध में बहुत ही असंदिग्ध सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है। आज जिसके लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की चुन्नट पकड़ने पर भी जो अराजकता दिखलाई देती है, वह समस्या उस समय रह ही नहीं गई थी। इसका सुपरिणाम यह था कि ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में गंभीर अध्येता, प्रकाण्ड विद्वान् सूक्ष्म एवं मौलिक अनुसन्धानक होते रहे। जब से और जैसे-जैसे यह आधार शिथिल होता गया, वैसे-वैसे पाण्डित्य प्राप्त करने का स्वरूप निखरता गया।

उस प्रक्रिया का मूल्य आधार वर्ण था। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि वर्णों के विहित कर्तव्यों के अनुरूप ही उनकी शिक्षा व्यवस्था एवं ज्ञानों को निर्धारण किया जाना चाहिए। वर्णाश्रम में कथित स्वधर्म का पालन करने से स्वार्थता, अनन्त सुख अर्थात मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु स्वधर्म उल्लंघन करने से लोक कर्म-संकर तथा वर्ण-संकर होकर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।[1] कोई कर्म लघु नहीं और कोई ज्ञान हीन नहीं है कर्म-कौशल ही मनुष्य की श्रेष्ठता ज्ञापित करते हैं। अतः प्रवीणता एवं विषय-निर्धारण के लिए वर्ण से उत्तम आधार आचार्य ने दूसरा कोई नहीं माना। गृहस्थ के लिए कौटिल्य ने अपने (वर्ण के कर्त्तव्य) के अनुसार जीविकोपार्जन करने का निर्देश दिया है।[2]

परम्परा-विहित ज्ञान और विद्योपार्जन करने से न केवल पाण्डित्य सुरक्षित होता है, बल्कि अस्वस्थ प्रतियोगिता उभरने ही नहीं पाती। उत्तरदायित्व-विहीन ज्ञान-संग्रह ने जिस प्रमाणपत्रों वाली शिक्षा का जन्म आज दे दिया है, उसके उस समय न उदय होने का वास्तविक कारण यही है। वर्ण ने न केवल जीविका का वर्गीकरण प्रदान किया था, बल्कि तत् तत् विद्याओं को सुरक्षित रखने एवं उन्नयन करने का भी दायित्व प्रत्यक्ष रूप से दे दिया था। जिस कर्म-संकरत्व की चेतावनी आचार्य कौटिल्य ने दी थी, उसका प्राचीन भारत ने सदा प्रबुद्ध हो सम्मान किया फलतः कर्म-कौशल के स्तर में दयनीय गिरावट की जो स्थिति बाद के युगों में आई और आज है, उसकी सम्भावना उस समय नहीं हुई।

वर्णानुसार ज्ञान-विभाजन में ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन, मुख्य था। परन्तु अध्यापन के लिए सभी विद्याओं का अध्ययन, यजन-याजन भी उनके लिए मनोनीत था। क्षत्रिय के लिए राज्यशास्त्र, दण्डनीति, शस्त्रविद्या, युद्ध-विद्या मुख्य था। अन्य ज्ञान भी सामान्य रूप से उसके लिए मनोनीत थे। वैश्य के लिए कृषि, पशुपालन, वाणिज्य अर्थात् वार्तान्तर्गत सभी विषय मुख्य रूप से मनोनीत थे। शूद्र के अध्ययन का क्षेत्र और भी विस्तृत था। उसके लिए वार्तान्तर्गत कृषि, पशुपालन और वाणिज्य तो समान्य रूप से थे

३—चतुर्वर्णाश्रमो लोके राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥ १ ॥ (वही)

४. एष धर्म एव गाथानन्त्याय च। तथ्यातिक्रमे लोकः।
संकरादुच्छेद्येता (अर्थ० अध्याय ३, प्रक० १, अधि० १)

ही, मुख्य रूप से समस्त शिल्प, कारुकर्म (कई प्रकार के उद्योग एवं प्राविधिक विद्याओं) और कुशीलव-कर्म की विद्याएं (गायन, वादन, नृत्य, नृत्त, चारण-भाट कर्म आदि) उसके अध्ययन के विषय थे।[1]

इस विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है पाठ्य-विषयों का वर्गीकरण कर कौटिल्य ने व्यक्ति समाज राष्ट्र के कल्याण का स्थायी पथ बना दिया था। इसकी जिस रूप में भी परीक्षा की जाय, अथवा जैसे भी ठोंका-पीटा जाय, यह खरा उतरता है। वर्तमान युग का सम्भवतः कोई भी ज्ञान-विज्ञान नहीं है जिसके पठन-पाठन की व्याख्या न की गई हो। प्रत्युत आन्वीक्षिकी और त्रयी का समन्वय जीवन का संतुलन बन गया था। अपेक्षाकृत यही उसका वैशिष्ट्य था।

---

१. अर्थ०, अध्याय ३, प्रक० १, अधि० १।

मानस की भूमिका

आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी

[आचार्य जी की विशेष कृपा से प्राप्त यह निबन्ध छात्रों को आदर्श-दर्शन हेतु तथा उन्हें निबन्ध लेखन कार्य में अभिरुचि उत्पन्न करने हेतु दिया जा रहा है। हम इसके लिये आचार्यजी के बड़े कृतज्ञ तथा आभारी हैं—संरक्षक]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने न तो अपनी जाति, गोत्र, जन्म-स्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में ही कुछ लिखा न उन्होंने कहीं यही संकेत दिया कि उन्होंने कहाँ शिक्षा प्राप्त की, किस गुरु से क्या पढ़ा, कहाँ दीक्षा ली, किस-किस स्थान पर कब-कब रहे और किस संवत् में उनका जन्म हुआ। विनयपत्रिका और कवितावली में प्राप्त निम्नांकित संकेतों के अनुसार यह अनुमान लगाया जाता है कि उनका प्रारम्भिक नाम 'रामबोला' था, उनके माता-पिता ने उन्हें त्याज्य समझकर छोड़ दिया था और बचपन में वे इधर-उधर भिक्षा माँगते फिरते थे।

राम को गुलाम नाम 'रामबोला' राख्यौ राम।
काम यहै नाम द्वै हो कबहूँ कहत हौ॥ विनयपत्रिका॥
साहेब सुजान जिन स्वानहूँ को पच्छ कियों।
'रामबोला' नाम हौं, गुलाम राम साहि कौ॥ कवितावली॥
मात-पिता जग जाइ तज्यौ।
जननी-जनक तज्यौ जनमि॥ कवितावली २२७॥
तन तज्यौ कुटिल कीट ज्यौं तज्यौ मातुपिताहू॥ विनयपत्रिका २७५॥
बारेते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को॥
—कवितावली

रामचरितमानस में—

बन्दौं गुरुपदकंज, कृपासिंधु नर रूप हरि

के आधार पर यह कल्पना कर ली गई है कि उनके गुरु का नाम 'नरहरिदास' था। इसी प्रकार मानस के रूपक में—

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसीदास हित हिय हुलसी सी॥

के आधार पर यह मान लिया गया है कि उनकी माता का नाम 'हुलसी' था जिसका समर्थन रहीम के तथाकथित अर्द्ध दोहे से कर दिया जाता है—

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय।

जो उन्होंने तुलसीदासजी के निम्नांकित अर्द्ध दोहे के उत्तर में कहा था—

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय ।

जहाँ तक गोसाइँ-चरित तथा मूल गोसाँई-चरित द्वारा प्रस्तुत जीवनी का प्रश्न है, वे दोनों ग्रन्थ पूर्णतः कल्पित हैं जिनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। फिर भी विचित्र बात यह है कि रामचरित मानस की तिथि गोस्वामीजी ने स्पष्ट दे दी है—

संवत् सोरहसै एकतीसा । करौं कथा हरिपद धरि सीसा ।।
नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।।

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६३१ विक्रमीय के चैत्र मास की शुक्ला नवमी मंगलवार को उन्होंने अयोध्या में यह चरित (रामचरितमानस) प्रकाशित किया। यद्यपि 'प्रकासा' शब्द से यह भ्रम हो सकता है कि उन्होंने इसे उस दिन लिखना प्रारम्भ किया था लिखकर प्रकट किया था किन्तु यह चौपाई मानस के आरम्भ में ही तैंतीसवें दोहे के पश्चात् इस प्रसंग में आती है—

सादर सिवहि नाइ अब माथा । बरनौं विसद रामगुन-गाथा ।
सब विधि परम मनोहर जानी । सकल सिद्धिप्रद मंगल-खानी ।।
विमल कथा करि कीन्ह अरम्भा । सुनत नसाइ काम-मद-दम्भा ।।
रामचरित मानस एहि नामा । सुनत स्रवन पाइअ विश्रामा ।।
मनकरि बिसय-अनल-वन जरई । होइ सूखी जौ तेहि सर परई ।।

जिससे भ्रम दूर हो जाता है और स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने संवत् १६३१ विक्रम की चैत्र शुक्ला नवमी को मानस की रचना आरम्भ की किन्तु इसे पूर्ण कब किया इसका उल्लेख उन्होंने कहीं नहीं किया और न यही लिखा कि इसका कौन-कौन सा अंश उन्होंने कहाँ-कहाँ लिखा।

इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पहले ही दिन उन्होंने कम से कम ४७ दोहों तक रचना कर डाली थी अर्थात्—

कहौं सुमति अनुहारि अब, उमा-सम्भु-संवाद ।
भयउ समय जेहि, हेतु जेहि, सुनि मुनि मिटहि बिसाद ।।—तक

अथवा

सदा सुमन फल सहित सब, द्रुम नव नाना जाति ।
प्रगटी सुन्दर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति ।।—तक

इससे यह समझना कठिन नहीं है कि उन्होंने इतने वेग से लिखना आरम्भ किया कि बारह-तेरह दिन में ही मानस की रचना पूर्ण कर डाली। यदि यही मान लें कि उन्होंने ३४ वें दोहे तक ही एक दिन में लिखा तो भी उन्होंने पूरा मानस १६ दिन में लिख डाला होगा, उन जैसे रससिद्ध तथा संस्कृत और भाषा के प्रखर विद्वान के लिये यह कोई कठिन तथा असम्भव कार्य नहीं था। देवी शक्ति से समृद्ध उनकी लेखनी इतनी प्रवहमान, सरस और शक्तिशालिनी थी कि भावों के साथ छन्द में बँधी हुई भाषा सद्यः प्रसूत होती चलती थी,

इसलिये उन जैसे रामभक्त के लिये जिसे रामगुणगान के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य न हो १५-१६ दिनों में मानस पूर्ण करना कोई कठिन काम नहीं था।

कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि उन्होंने कई सोपान अयोध्या में और कुछ काशी में रचे। किन्तु ऐसा विचार संशय रहित नहीं है। संभव है वालकांड और अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध की रचना उन्होंने अयोध्या में उत्तरार्द्ध की रचना चित्रकूट में और किष्किन्धाकांड की रचना काशी में की हो किन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण या संकेत कहीं नहीं मिलता जिसके आधार पर इन स्थानों पर रचना करने की बात उठे। 'अवधपुरी यह चरित प्रकासा' से और अवधपुरी की महिमा का वर्णन करके मानस-रचना की तिथि देने से निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने पूरा मानस अयोध्या में ही लिख डाला।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भारतीय महाकाव्यों की परम्परा से एक पग आगे बढ़कर मंगलाचरण में सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता, राम, ब्राह्मण, सुजन-समाज और सन्त-समाज के साथ-साथ निश्छल भाव से (सति भाए) उन खलजन की भी वन्दना की है जो 'विनु काज दाहिने वाएँ' बने रहते हैं।

इसके पश्चात् अपना स्वाभाविक दैन्य प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा—

कवि न होहु नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।
जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट यहि माहीं।

किन्तु तथ्य यह है कि काव्य का कोई अंग ऐसा नहीं था जिसका पूर्ण मर्म वे न जानते रहे हों।

उन्होंने श्रेष्ठ काव्य की कसौटी बताते हुए मानस के आरंभ में ही कहा है।—

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज वयर विसराइ रिपु, सो सुनि करहिं बखान॥
कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि-सम सबकर हित होई।

[सुजन लोग उसी कविता का आदर करते हैं जो सरल हो और जिसमें किसी विमल कीर्तिवाले का वर्णन हो। कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी होती है जो गंगाजी के समान सबका हित करनेवाली हो।] इसलिए जो लोग पांडित्य छाँटने के लिए या श्रोताओं का मनोरंजन करने के लिए मानस की चौपाइयों के अनेक असंगत और अनर्गल अर्थ लगाकर पैसा कमाते हैं उन ज्ञान-पुण्य वणिजों (ज्ञान या नाम बेचनेवाले बनियों) को यह प्रसिद्ध उक्ति स्मरण रखनी चाहिए—

यः साध्वर्थं परित्यज्य करोत्यर्थ-विपर्ययः।
स वक्ता निरयं याति श्रोतृंश्च निरयं नयेत्॥

(जो वक्ता या कथावाचक किसी ग्रंथ के ठीक अर्थ को छोड़कर अंड-वंड अर्थ करता है वह तो नरक में जाता ही है, वह अपने साथ श्रोताओं को भी नरक में घसीट ले जाता है।)

गोस्वामी जी ने--

ब्रह्म रामते नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामायन सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि ।।

कह कर भी राम कथा क्यों गाई इसका समाधान ढूँढना कठिन नहीं है। 'रामनाम कलि अभिमत दाता' कह कर भी उन्होंने रामकथा कहना इसलिये श्रेयस्कर समझा क्योंकि--

बुध विश्राम सकल जन-रंजिनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजिनि।--है।

उन्होंने रामावतार के कारण भूत नारदमोह, भानुप्रताप तथा स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की कथा भी दी है जो महाकाव्य की परिपाटी से मेल नहीं खाती किन्तु वे तो राम को अवतार सिद्ध करना चाहते थे इसलिये इन कथाओं का सन्निवेश करना आवश्यक था। इस प्रकार यह महाकाव्य अन्य सब महाकाव्यों की रचना-पद्धति से पूर्णतः भिन्न है।

मानस का अनुबन्ध-चतुष्ट्य

महाकाव्य के अनुबन्ध-चतुष्टय के अनुसार भी मानस का परीक्षण करते हुए यह विचार करना आवश्यक है--'किं कथ केन कस्मै'--अर्थात् मानस क्या है, इसकी रचना क्यों की गई, विशेषतः भाषा में क्यों की गई, इसकी रचना किसने की और किसके लिए की।

मानस क्या है ?

रामचरितमानस महाकाव्य होने के साथ-साथ नाटक भी है क्योंकि इसके अनुसार ही भारत में स्थान-स्थान पर रामलीलाएँ खेली जाती हैं जिनमें अत्यन्त निष्ठा के साथ मानस में दिये हुए संवादों के अनुसार ही संवाद कहलाये जाते हैं। मानस का पाठ स्तोत्र के समान भी किया जाता है। भागवत के समान इसकी कथा भी बैठाई जाती है और नवाह या मासिक पाठ भी किया जाता है। धन-प्राप्ति के लिए किष्किन्धाकांड का और कामनासिद्धि के लिए सुन्दर कांड का पाठ किया जाता है। यह पूरा महाकाव्य गेय भी है जिसे लोग ढोल, मजीरे और हारमोनियम के साथ गाते भी हैं। इतना ही नहीं, निम्नांकित चौपाई को लोग कामनासिद्धि के लिये मन्त्र के समान भी जपते हैं--

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।
ताके जुगपद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं ।।

इसके दोहे और सूक्तियों का प्रयोग नीति-वचनों के समान किया जाता है और उसमें दार्शनिक तत्वों का विवेचन भी है। इस दृष्टि से यह मानस महाकाव्य भी है, नाटक भी है, स्तोत्र भी है, गेय काव्य भी है, मन्त्र भी है, नीतिग्रन्थ और स्मृति के समान धर्मशास्त्र भी है और दार्शनिक विवेचन से युक्त होने के कारण दर्शन भी है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में सम्पूर्ण वाङ्मय को काव्य और शास्त्र नामक दो भागों में विभक्त किया है। किन्तु रामचरित-

मानस की विशेषता यह है कि यह काव्य और शास्त्र दोनों है वरन् इससे भी अधिक है। इस दृष्टि से यह संसार का सबसे अद्भुत महाग्रन्थ है जैसा न पहले कभी विश्व भर में रचा गया और न आगे रचे जाने की संभावना है। इसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है—यह क्या नहीं है ?

मानस क्यों ?

दूसरा प्रमुख प्रश्न यह है कि वाल्मीकीय रामायण जैसे अभूतपूर्व राम-गुन-गाथा-ग्रंथ के होते हुए रामचरित मानस की रचना क्यों की गई और वह भी भाषा में क्यों ? स्वयं गोस्वामी जी ने मानस के आरंभ में कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

(अनेक पुराण, वेद और शास्त्रों से सम्मत जो कुछ रामायण (वाल्मीकीय या शंभु रामायण) में कहा गया है वह सब तथा कुछ अन्य स्थलों से भी सामग्री लेकर अपने अन्तः-करण के सुख के लिए तुलसी ने रघुनाथ की गाथा को भाषा में निबद्ध करके अत्यन्त सुन्दर प्रस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।)

मानस के अन्त में भी इसी को दुहराते हुए उन्होंने कहा है---स्वान्तस्तमःशान्तये— 'अपने अन्तःकरण के अन्धकार को दूर करने के लिये' मैंने भाषा में मानस की रचना की है। उनकी निष्ठा इस बात से भी स्पष्ट है कि उन्होंने अन्त में यह कह दिया—

मो सम दीन न दीनहित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि, हरहु बिसम भवभीर ॥
कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥

किन्तु उनके 'स्वान्तः' का अर्थ केवल तुलसीका ही अन्तःकरण नहीं वरन् विशान्तः करण ही समझना चाहिए।

भाषा में निबद्ध करने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा है—

भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥

वे तो संस्कृत के भी प्रखर पंडित थे तब उन्हें भाषनिबद्ध करके आत्मप्रबोध की आवश्यकता क्यों पड़ गई। वास्तव में यह उनकी विनय-भावना ही थी क्योंकि उन्होंने अन्त में भी यही कहा—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्ति प्रदं,
मायामोहलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरितमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये,
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो भावनाः ॥

[जो मनुष्य भक्ति के साथ इसे पवित्र, सदा कल्याण कर, ज्ञानभक्तिप्रद, माया मोह का मल दूर करने वाले विमल प्रेम के जल से भरे हुए रामचरित मानस में अवगाहन करेंगे वे संसाररूपी सूर्य की प्रखर किरणों से नहीं जल पावेंगे ।] तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपने अन्तःकरण के सुख के लिये, अपने अन्तःकरण के तम की शान्ति के लिये तथा आत्म प्रबोध के लिये तो इसकी रचना की ही साथ सांसारिक लोगों को संसार के क्लेशों से जलने से बचाने के लिये भी इसकी रचना की ।

भाषा में निबद्ध करने का दूसरा कारण स्पष्ट यह है कि संस्कृत में सर्वसाधारण की गति नहीं थी, केवल कथा वाचकों के द्वारा जनता को रामकथा मिल पाती थी । इसीलिये उन्होंने सरल. लोक भाषा, ग्राम्य गिरा में इसकी रचना करके सबके लिये रामकथा सुलभ कर दी और उसका कारण भी बता दिया—

श्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहिं सुकवि सुजान ।।

उन्होंने अन्यत्र भी कहा है—

का भाषा का सस्कृत, प्रेम चाहियतु साँच ।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कमाच ।।

मानस की रचना किसने की ?

तीसरा प्रश्न यह है कि मानस का रचयिता कौन है । इस सम्बन्ध में उन्होंने मानस के अन्त में स्पष्ट कहा है—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं,
श्री मद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये,
भाषा बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।।

[भगवान् शंकर ने राम के चरणकमलों में निरन्तर भक्ति प्राप्त करने के लिये जिस दुर्गम रामायण की रचना की थी उसी को तुलसीदास ने राम-नाम से पूर्ण होने के कारण अपने अन्त करण के अन्धकार को शान्त करने के लिये भाषा में रामचरित मानस के नाम से रच दिया है ।] इस नाम के सम्बन्ध में भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है—

रचि महेस निज मानस राखा । पाइसु समउ सिवासन भाखा ।।
रामचरित मानस मुनि भावन । बिरचेउ संभु सुहावन पावन ।।
ताते रामचरित मानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ।।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी ने, जो रामचरितमानस रचा है, इसके मूल कर्ता साक्षात् शंकर हैं । उन्होंने इसकी रचना करके अपने मानस में रख लिया था जिसे समय-समय पर पार्वतीजी के प्रश्नों के उत्तर में उन्हें सुनाते रहते थे । इसलिये तुलसी ने इसका नाम राम-

चरितमानस ही ग्रहण कर लिया। यह मूल शंभुनारायण या उमा शंभुसंवाद कौन-सा है। उसका कोई परिचय तो कवि ने नहीं दिया किन्तु इतना अवश्य कह दिया है कि--

कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि विधि शंकर कहा बखानी।
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई॥
जेहि यह कथा सुनी नहि होई। जनि आचरज करै सुनि कोइ॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहि अस जानी॥

तात्पर्य यह है कि पार्वतीजी ने शिवजी से जो प्रश्न किए उनके जो उत्तर शिवजी ने दिए और जिस रामचरित को तुलसी ने अपने गुरू से सूकर खेत में सुना था उसे ही विचित्र कथा-प्रबन्ध के रूप में सजाकर तुलसी ने महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। अतः मानस के मूलकर्ता शिव ही है, गोस्वामी जी केवल इसे भाषा में सजाकर उतारने वाले मात्र है।

मानस किसके लिये ?

चौथा प्रश्न यह है कि मानस की रचना किसके लिये की गई। उन्होंने काव्य का प्रयोजन ही यह बताया है कि उससे सबका हित होना चाहिए--

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरिसम सबकर हित होई॥

वाक्य के फलादेश के रूप में भी उन्होंने यही कहा है--

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं रामचरित अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगलभागी॥

यद्यपि मूलतः उन्होंने तो अपने सुख और आत्मप्रबोध के लिये इसको रचना की थी तथापि तत्पुरुष का लक्षण यही है कि जो वह अपने लिये चाहता हो वही दूसरों के लिये भी चाहे।

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

[जो अपने लिये चाहो वही दूसरों के लिये भी चाहो।] इसीलिये मानस आज सारे विश्व का हितकारी सिद्ध हो रहा है।

जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। आज विश्व में चारो ओर बिना प्रचार किए तुलसी और उनके मानस का सम्मान विश्व कवि के रूप में हो रहा है। नाभादासजी ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा था--

कलि कुटिल जीव विस्तार हेतु, बालमीकि तुलसी भए॥

भक्तिकाल (संवत् १३७५ से १७००) नामकरण पर पुनर्विचार

रामायण उपाध्याय

हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल, दो भागों में बांटा है और पूर्व मध्यकाल का नामकरण उन्होंने 'भक्तिकाल' किया है। भक्तिकाल के भीतर उन्होंने अन्तर्विभाग भी किया है—सगुण और निर्गुण। सगुण के भी दो उपविभाग हैं—रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा। इसी तरह निर्गुण के भी दो उपविभाग हैं—प्रेमाश्रयी और ज्ञानाश्रयी। रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत रामभक्त, कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्तर्गत कृष्ण-भक्त तथा प्रेमाश्रयी के भीतर सूफी-सन्त और ज्ञानाश्रयी के भीतर कबीर प्रभृति गृहीत किये गए हैं। शुक्लजी द्वारा भक्तिकाल के विभाग और अन्तर्विभागों का स्वरूप इस प्रकार है :—

भक्ति
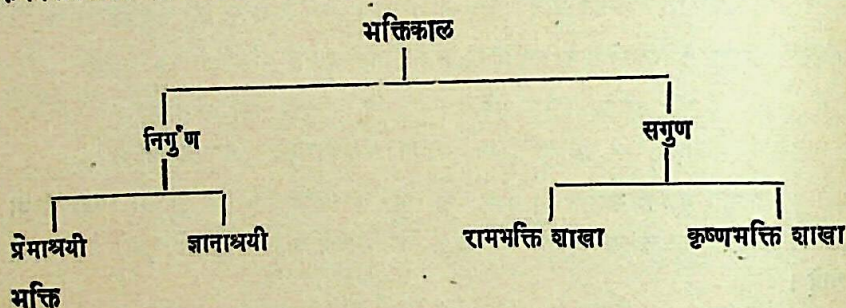
भक्तिकाल की ऐतिहासिक परिस्थितियों का अंकन करते हुए शुक्लजी ने उसे निराश हिन्दू जाति की हताशा से उत्पन्न माना है। वे लिखते हैं—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[१]

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०

इस सम्बन्ध में इसको गलत व्याख्या बतलाते हुए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—"किन्तु वास्तव में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत में न प्रारम्भ होकर सुदूर दक्षिण में शुरू हुआ था, राजनीतिक पराधीनता से प्रभावित होकर नहीं, किन्तु वहाँ की शुद्ध वैष्णव-परम्परा में धार्मिक धारा के रूप में। इस नवजागृत वैष्णव धर्म ने उत्तर भारत की राजनीति को प्रभावित किया। यद्यपि उत्तर भारत में हिन्दू राजवंश तो तेरहवीं शती के प्रारम्भ में ही समाप्त हो गये थे तथापि ऐसे छोटे-छोटे जमींदार बने रहे, जिनके पास सैनिक शक्ति भी थी और वे बराबर मुसलिम सत्ता से विद्रोह करते रहे। जहाँ तक जनता का प्रश्न है (विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में) धार्मिक दृष्टि से इस्लाम से उसने कभी हार न मानी। उसके बहुत से मन्दिर तोड़े गये, किन्तु उसने बराबर नये मन्दिरों का निर्माण किया और अपनी धार्मिक चेतना बनाये रखी। राजनीतिक आदर्श और आशा भी कभी लुप्त नहीं हुई।.........असफलताएँ हुईं, किन्तु निराशा ने भारतीय जनता को कभी आक्रांत नहीं किया।"[1]

वस्तुतः भक्ति का उदेय हताशा एवं निराशा के गर्भ से नहीं हुआ है। अनेक विद्वान् इसका स्रोत आर्येतर सभ्यता में भी देखते हैं। वैदिक काल में आर्यों ने भी इसे अपने ढंग से अपना लिया था। वैदिक काल में ही वासुदेव, सात्वत, शक्ति और वैष्णव सम्प्रदाय का पता चलता है। वैदिक सभ्यता ने कुछ उच्च वर्गों को ही (द्विजों को ही) ज्ञान-विज्ञान और मुक्ति का अधिकारी माना था। इसका विरोध हुआ। चार्वाकों ने घोर विरोध किया। औपनिषदिक धारा भी विरोधिनी है और बौद्ध-जैन चिन्तन धाराएँ तो उसका विरोध करती ही हैं। इसी प्रकार का यह एक वैष्णव सम्प्रदाय भी था, जो वैदिक व्यवस्था का मृदु विरोधी था। यह सम्पूर्ण मानवता को ज्ञान-विज्ञान का और मुक्ति का अधिकारी स्वीकार करता था। भगवद्भक्ति इसका सम्बल थी और सारी मानवता उसकी अधिकारिणी थी। इसने वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव और शाक्त सभी मतवादों को और उनसे भी प्रभावित हुआ। इस धर्म को भागवत धर्म भी कहा जाता है। ईसका प्रधान ग्रन्थ है, नारद पाँचरात्र। ३०० ई० के लगभग जिनका समय माना जाता है उस वादरायण ने इसका खण्डन किया है।

भक्ति के प्रचारकों में नारद जी का नाम प्रसिद्ध है। यह प्रसिद्ध पर्यटक थे। संभवतः इन्हीं के द्वारा भक्ति का बीज दक्षिण में बोया गया हो। नारद ने स्वयं कहा है —"वे पहले (पहले जन्म में) दासी पुत्र थे (अर्थात् वैदिक अधिकारों से वंचित शूद्र मात्र थे), किन्तु भक्ति के प्रभाव से ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी हुए। श्रीमद्भागवत में नारद का यह कथन महत्वपूर्ण है—"

अहं पुरातीत भवेऽभवं मुने ! दास्यास्तु कस्माश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एवयोगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥

---

१. हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्ययुग, पृष्ट १३, आलोचना, वर्ष ३ अंक २, जनवरी १९५४ ई०।

नारद का काल भी बहुत प्राचीन है। छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड में नाम की ब्रह्म रूप में उपासना के प्रसंग में इनकी चर्चा हुई है। नारद जी सनत कुमार से उपदेश लेने गये थे। छान्दोग्यका काल ७०० ईसा-पूर्व माना गया है। इसके अति-रिक्त यह चर्चा भी प्रसिद्ध है कि नारद पांचदत्र के सिद्धान्तों को नारद जी ने श्वेत द्वीप में जाकर नारायण से प्राप्त किया था। ये नारायण वैदिक ऋषि थे। इससे भागवत धर्म की प्राचीनता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। श्रीकृष्ण भी इसी भक्ति के प्रवल प्रचारक थे। गीता में उन्होंने भक्ति को ही प्रधान माना है। इनकी दृष्टि समन्वय भी जान पड़ती है। श्रीकृष्ण का काल भी बहुत प्राचीन ठहरता है। महाभारत कोल तक तो उनके आस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। विस्तार भय से यहाँ, इस प्रसंग में, अधिक दूर तक जाना अपेक्षित नहीं प्रतीत होता। भक्ति आन्दोलन अत्यन्त प्राचीन आन्दोलन है और यह सदा उदार, समन्वयी और मानवतावादी आन्दोलन रहा है। इसको वौद्धों, जैनों, शैवों और शाक्तों आदि ने भी स्वीकारा है। सहजयान और वैष्णव भक्ति के योग से सहजयानी वैष्णव परम्परा भी हिन्दी के आदि काल में ही चली थी। जयदेव और विद्यापति आदि इसी परम्परा के लगते हैं। इसी सम्प्रदाय ने आगे जाकर गौड़ीय वैष्णव मतवाद का रूप ग्रहण कर लिया।

इस भक्ति आन्दोलन का विकास और प्रसार भारत में तो होता ही आया है, विदेशों में भी इसका प्रचार-प्रसार यहीं से हुआ है। मैंने अन्यत्र इसकी चर्चा की है[1]।

शंकर ने जिस मायावाद की स्थापना की थी, उसकी प्रतिक्रिया में रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और चैतन्य आदि आचार्य-भक्तों ने भक्ति भावना को शास्त्री रूप देकर प्रचारित किया। लोक परम्परा में यह भक्ति पहले से ही चली आ रही थी और दक्षिण के आलवार सन्तों में इसका उद्दाम प्रचार था। आचार्यों ने भक्ति को शास्त्रीय आधार प्रदान किया रामानन्द आदि आचार्यों ने इसको उत्तर भारत में भी प्रचारित किया। कवीर आदि सन्त सहजमानी और नागपंथी धारा में विकसित हो रहे थे और जब उनको प्रेमामृतमयी भक्ति का आश्रय मिला तो वे कृतार्थ हो गए।

भक्ति के उद्भव और उदय की यहाँ संक्षिप्त चर्चा की गई और निष्कर्ष यह निकला कि भक्ति इस काल की उपज नहीं है, वल्कि वह प्राचीनतम धारा है। भक्तिकाल कहने से एक भ्रान्ति अवश्य होती है कि कदाचित् भक्ति का उदय इस काल में ही हुआ है। यद्यपि इस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति भक्ति की ओर ही प्रधान रूप से उन्मुख रही है। अतः इस तरह के नामकरण की ओर झुक जाना स्वाभाविक था।

साहित्यिक प्रवृत्ति की दृष्टि से इस काल का भक्ति काल नाम बहुत कुछ उपयुक्त कहा जा सकता है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से भक्ति की ज्योति से सम्पूर्ण भारत को जगमगा देने

---

१. "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : आलोचक और इतिहासकार नामक लेखक की अप्रकाशित कृति में यह प्रसंग आया है।"

व्यक्तित्व का महत्त्व अधिक निहित लगतो हैं। भक्ति की धारा तो प्राचीन काल से प्रवाहित होती आ रही थी किन्तु उसके अमृतार्णव में सम्पूर्ण भारत को निमज्जित करने निस्सन्देह व्यक्तित्व का प्रधान्य है। इस काल में व्यक्तित्व की महत्ता ही अधिक दृष्टिगत होती है, यदि इस आधार पर इस काल का नामकरण किया जाय तो "सन्तकाल" कहा जा सकता है। सन्त अपने व्यापक अर्थ में युग प्रवर्त्तक महापुरुष होते हैं और विभिन्न कालों में उनकी विभिन्न संज्ञाएं होती हैं। इस प्रकार महापुरुषों की ऋषि, मुनि और सन्त आदि की संज्ञाओं को समझा जा सकता है। इस काल के महापुरुष सन्त कहे जाते थे। सगुण-निर्गुण कवि भाजन ऊपरी हैं, सभी चाहे वे निर्गुणवादी हों या सगुणवादी, सन्त हैं। सन्त की प्रशंसा निर्गुण-सगुण सभी सम्प्रदायों में है और उसके लक्षण सब पर घटते हैं। कबीर, जायसी, तुलसी और सूर आदि सभी सन्त हैं।*

---

* 'सन्त' शब्द व्यापक है और इसके अन्तर्गत उन सभी महापुरुषों का सन्निवेश हो जाता हैं, जिन्होंने भक्ति के अमृतार्णव में भारत को आपादमस्तक निमज्जित कर दिया था। डाक्टर त्रिलोकी नारायण दीक्षित के अनुसार "सन्त शब्द का प्रयोग आज 'सज्जन', 'साधु', 'भक्त' एवं 'सत्पुरुष' के अर्थ में प्रचलित हैं।.... ... आज सन्त शब्द का प्रयोग शिथिल होता जा रहा है और हिन्दी में 'सन्त शब्द' सगुण, निर्गुण, सूफी, बाउल तथा सभी वार के महात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है। (सन्त दर्शन पृष्ठ १)

महाभारत में सदाचारी के अर्थ में (आचार लक्षणो धर्मः सन्तश्चाचार लक्षणाः), श्री मद्भागवत में पुनीत आत्मा के अर्थ में (प्रायेणतीर्थाभिगमापदेशैः स्वयंहितोर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ स्कं० १, अ० १९, श्लोक ८), भर्तृहरि द्वारा परोपकारी के अर्थ में (सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः), कालिदास द्वारा बुद्धिमान् के अर्थ में (सन्तः परीक्षान्यतरद्भजनो मूढः परप्रत्यय नेव बुद्धिः) धम्मपद में 'शान्त' के अर्थ में (सन्तं अस्समनं होति—अर्हन्तवग्ग, गाथा—७ तथा पुनः—अधिगच्छे पदं सन्तं संखरूपं समंसुखं भिक्खुवग्ग गाथा ९) और श्री रामचरितमानस में सत्पुरुष, सज्जन, भक्त और अर्थ में 'सन्त' शब्द व्यवहृत हुआ है। डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने (योगप्रवाह पृष्ठ १५८ में) सन्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई हैं। यह 'सत्' शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका हिन्दी में एकवचन प्रयोग होता है अथवा यह 'शान्त' का अपभ्रंश रूप हो सकता है, जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से सन्त के माने होगा, जो 'सत्' है अथवा जिसको 'सत्' की अनुभूति हो गई है; दूसरी से जिसकी कामनाएं 'शान्त' हो चुकी हैं। दोनों अर्थ, 'सन्त' पर ठीक उतरते हैं।

"शम्" शब्द में जब, 'कं शं भ्यां बभयुरिततुतयनः' इस सूत्र के द्वारा 'त' प्रत्यय लगता है तो 'शान्त' शब्द निर्मित होता है। इसका अर्थ होता है "शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य" (पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्र ५, २, १३८) इसका अपभ्रंश ही 'सन्त' शब्द है। ऋग्वेद में भी इसका प्रयोग मिलता है (ऋ० १०।११४।५) "सुपर्णं आविप्राः कवयो

अन्तर्विभागः-सगुण-निर्गुण

शुक्लजी ने अन्तर्विभागों में दो मुख्य विभाग किये हैं सगुण और निर्गुण किन्तु जिन सन्तों को सगुण विभाग में रखा गया है उनको और जिनको निर्गुण विभाग में रखा गया है उनको—किसी को भी चतुष्कोटिक सत्य पर रखा जाय तो कोई भी न सगुणवादी ही ठहरता है, न निर्गुणवादी ही। कबीर और जायसी को लीजिए। क्या ये निर्गुणवादी थे? नहीं,

---

वाचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।" श्री परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं 'सन्त' शब्द सत् का बहुवचन है जो हिन्दी में एकवचन में प्रयुक्त होता है। वेद में इसका प्रयोग ब्रह्म के लिए होता है। छान्दोग्य । द्वितीय खण्ड में कहा गया है—सदेस सोम्येद मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।) पाहुड़ दोहा में भी इसका 'सत्' के अर्थ में प्रयोग हुआ है. यथा—'सन्तु णिरंजण सोजिसिउतहिं किज्जउ अणुराउ (कारंजा जैन सिरीज, ३८) और तथाणिरंजण तहि वसइ णिम्पल होइ गवेसु (कारंजा जैन सिरीज, ६४) गीता में भी, ब्रह्म (ओ३म् तत्, सत्, इहि निर्देशो ब्रह्मण स्त्रिविधः स्मृतः १७।२३), भगवदर्थ कर्म (कर्म चैव तदर्थोऽयं सत् इत्येवाभिधीयते १७।२७), यज्ञ, दान, तप में संलग्नता (यज्ञे, तपसि दाने च स्थितिः सत् इति उच्यते (१७।२७) और साधु भाव से, सर्वभूत हित में रत रहकर, राग द्वेष से विरहित रहने के अर्थों में (सद्भावे साधुभावेच सत् इत्येतत् प्रयुज्यते) 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है. पलटूदास राम और सन्त में अभिन्नता बतलाते हैं (सन्त औ राम को एक कै जानिये दूसरा भेद न तनि आने). (पलटू साहब की बानी, भाग-२, पृ० ८) गरीबदास भी साईं और सन्त को अभिन्न कहते हैं. (साईं सरीखे सन्त हैं, यामें मीन न मेख—सन्तवानी संग्रह, भाग-१, पृष्ठ १६८) संत तुलसी ने भी सन्त को अनन्त से अभिन्न माना है (जानेसु सन्त अनन्त समाना) कबीर का भी यही मत है (कबीर दरसन साध का साहिब आवै याद)। वस्तुतः जिस प्रकार ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है, योगी आत्मा से अभिन्न हो जाता है, बौद्ध बुद्धत्व प्राप्त करके बुद्ध हो जाता है एवमेव भक्त भी भगवान् से अभिन्न हो जाता है। सन्त त्रिगुणात्मिका माया से रहित, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ और भगवत्स्वरूप होता है। गौतमस्मृति में सन्त के आठ लक्षणों का वर्णन हुआ है—दया, क्षमा, अनुसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य और निस्पृहता। श्री रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने सन्तों और उनके लक्षणों का भूरिशः एवं भूयो भूयो वर्णन किया है, यथा अरण्यकाण्ड में देखिए—

षट् विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन शुचि सुखधामा॥
अमितबोध, अनीह, मित योगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान, मानद, मदहीना। धीर धरमगति परम प्रबीना॥
सरषा, छमा, मयत्री, दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥

इसी तरह उन्होंने पर उपकार वचन मन काया, सन्त हृदय नवनीत समाना, पर दुःख द्रवहिं सन्त सु पुनीता, औ सम, अभूतरिपु, विमद, बिरागी आदि अनेकशः सन्तों का गुणगान किया है। हिन्दी के पूर्व मध्यकाल को ऐसे ही महान् आत्माओं के हाथों से सँवरने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सन्त में निर्गुण-सगुण का भेद कथमपि नहीं है।—लेखक

क्योंकि कण कण में उनका प्रियतम रमता है। बाहर-भीतर, सर्वत्र....सब वही है। समस्त व्यक्ताव्यक्त सत्ता उसमें है और वह समस्त व्यक्ताव्यक्त सत्ता में है। इससे बढ़कर सगुण और साकारवादिता कहाँ मिलेगी ? "सन्तों धोखा कासू कहिए।" गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण....(कबीर) इत्यादि वाक्यों से यह सिद्ध है कि सगुण-निर्गुण की भेद-रेखा ऊपरी है। ये निर्गुणियाँ अपने प्रियतम के 'रूप' पर पागल हैं, दीवाने हैं और उसको बराबर पाने के कायल हैं।

सगुणोपासक कहे जाने वाले भक्त भी सगुण-निर्गुण में भेद नहीं स्वीकार करते, उदाहरण के लिए तुलसी का कहना सुनिए :—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेद।
गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा॥
व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी।
चिदानन्द निर्गुन, गुनरासी॥

तुलसी तो स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। इस स्थिति में काम चलाने के लिए उपर्युक्त अन्तर्विभाग भले स्वीकार्य हो, किन्तु वह उपयुक्त कम ही प्रतीत होता है। तब प्रश्न यह होता है कि अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं या नहीं और यदि किए जा सकते हैं तो उनका उपयुक्त आधार क्या हो सकते हैं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अन्तर्विभाग किया जा सकता है और उसकी आधार-भूमि में सन्तों की भक्ति-पद्धति या उनके भक्ति-मार्गों को ग्रहण किया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें निर्गुणोपासक कहे जाने वाले सन्तों में एक ऐसा भेदक तत्त्व है जो सगुणोपासक भक्तों में नहीं है और वह भेदक तत्त्व है—रहस्य की भावना। इसी तरह सगुणोपासक भक्तों में अवतारवाद की विशेषता मिलती है जो निर्गुणोपासक भक्तों में नहीं प्राप्त होती। इस आधार पर हमें भक्तिकाल में दो प्रकार के 'सन्त' दिखाई पड़ते हैं—रहस्यवादी और अवतारवादी। इन्हीं को क्रमशः निर्गुणोपासक और सगुणोपासक कहा जाता है। यदि हम चाहें तो अन्तर्विभागों का नामकरण "रहस्यवादी" और "अवतारवादी" के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं।

उप अन्तर्विभाग

ज्ञानाश्रयी-प्रेमाश्रयी, रामभक्तिशाखा-कृष्ण भक्ति शाखा

ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी का उप-अन्तर्विभाग भी युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता है। प्रेम का जब उदात्तीकरण होता है अर्थात् जब वह जड़ोन्मुख न होकर चिन्मुख होता है, तो उसको 'भक्ति' कहते हैं। प्रेमतत्व की प्रधानता सभी भक्ति पद्धतियों में प्रमुख और अनिवार्य है। जब 'रति' भावना ईश्वर के प्रति होती है तो उसे भक्ति कहते हैं। इसको लेकर ही हमारे यहाँ भगवान से अनेक सम्बन्धों की कल्पना और तदनुकूल भक्तियों के स्वरूप स्वीकार किए गये हैं, जैसे दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य आदि। इसीलए किसी एक स्कूल को ही प्रेमाश्रयी, बाकी

को प्रेम रहित बतलाने जैसी बात है। यदि यह कहा जाय कि प्रेमाश्रयी का प्रेम ही लक्ष्य होता है तो हम सभी भक्तों में इस बात को देख सकते हैं। दाम्पत्य भाव से भक्ति करने वालों में प्रेम का लक्ष्य तो और भी प्रस्फुट भाव से विद्यमान् है। प्रेम की प्रमुखता सब में है। प्रेम का चिन्मुखीकरण ही भक्ति है। जायसी, कबीर, तुलसी और सूर आदि सभी प्रेमाश्रयी हैं। जो कबीर अपने को भगवान की दुलहिन बताते और उनको भरतार कहते हैं उन्हें ज्ञानाश्रयी कहना भी युक्ति युक्त नहीं लगता। भक्तों का लक्षय प्रेम ही है। अतः उन्हें ज्ञानाश्रयी कहना उनकी वाणियों की मर्म की उपेक्षा करना है।

इसी तरह रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा का उप विभाजन भी निर्दोष नहीं है। कबीर भी तो राम के ही भक्त थे। यदि उनके 'राम' दाशरथि राम नहीं थे तो क्या वे राम के भक्त नहीं कहे जा सकते? इसके अतिरिक्त मुख्य प्रश्न राम या कृष्ण की भक्ति का नहीं है, भक्ति-मार्ग का है। तुलसी की भक्ति-पद्धति मर्यादा समन्वित हैं। वहाँ श्रद्धा और पूज्य भावना का भी प्रेम में मिश्रण है। अन्यों में मर्यादा नहीं, स्वच्छन्दता है और केवल प्रेम ही साध्य है। ज्ञानाश्रयी यदि कहना ही तो तुलसीदास जी को कहा भी (किसी तरह) जा सकता है क्योंकि वे भक्ति को सम्मत विरति विवेक भी कहते है। डॉ० श्री कृष्णलाल ने एक जगह कहा भी है--"सच बात तो यह है कि सगुण लीला की भक्ति भावना ही ज्ञानाश्रित रही है। शास्त्र पुराण के ज्ञान की चर्चा इसी धारा में प्राप्त होती है। अस्तु, भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा इसी को मानना चाहिए।[1] शुक्लजी ने जिनको ज्ञानाश्रयी भक्त माना हैं उन्हें तो 'ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख" भी कहा हैं।

उप-अन्तर्विभाग के लिए पहले रहस्यवादी सन्तों का अन्तर्विभाग लिया जाय। रहस्यवाद की उत्पत्ति भारत में ही हुई और उसका भारत में ही हुई और उसका भारत में अपना विकास होता रहा। यह रहस्यवाद सहजयानी सिद्धों और नाथयानी योगियों की परम्परा से भक्ति सम्वलित होकर कबीरदास में पाया जाता है। यही रहस्यवाद अरब में सूफियों में अपने ढंग से विकसित हुआ, जिसका सामंजस्य इस्लाम धर्म के साथ करने को सूफी बाध्य हुए यह काम इमाम गज्जाली ने किया था। इस विवेचन के आधार पर रहस्यवादी सन्तों के दो उप-अन्तर्विभाग हुए—'योगाश्रयी रहस्य मार्गी और 'इस्लामिक रहस्यमार्गी।'

इसी तरह भक्ति-मार्ग के अनुसार, अवतारवादी वैष्णवों के भी मुख्य उप-अन्तर्विभाग दो हुए--'स्वच्छन्द मार्गी' और 'मर्यादा मार्गी'। पुनः 'स्वच्छन्द मार्गी' के भी दो उपविभाग हो सकते हैं 'सहजमार्गी' और 'पुष्टिमार्गी'।

योगाश्रयी रहस्यमार्गी शाखा के भीतर कबीर आदि इस्लामिक रहस्यमार्गी के भीतर जायसी आदि सूफी, मर्यादामार्गी के भीतर तुलसी आदि मर्यादावादी, सहजमार्गी के भीतर मीरा आदि और पुष्टिमार्गी के भीतर सूर आदि भक्त-सन्तों की गणना हो सकती है। इस उप-

---

१. भक्ति-काव्य, ले० डॉ० श्री कृष्णलाल, आलोचना वर्ष २, अंक १ अक्टूबर १९५२ ई०, पृष्ठ ५६।

विभाजन से भक्तों के सिद्धान्तों की ओर और उनके मार्गों की ओर भी पर्याप्त संकेत हो जाता है। इस प्रकार 'व्यक्तित्व' के आधार पर पूर्व मध्यकाल के नामकरण से उसके अन्तर्विभाग और उप अन्तर्विभागों का स्वरूप इस प्रकार होगा--
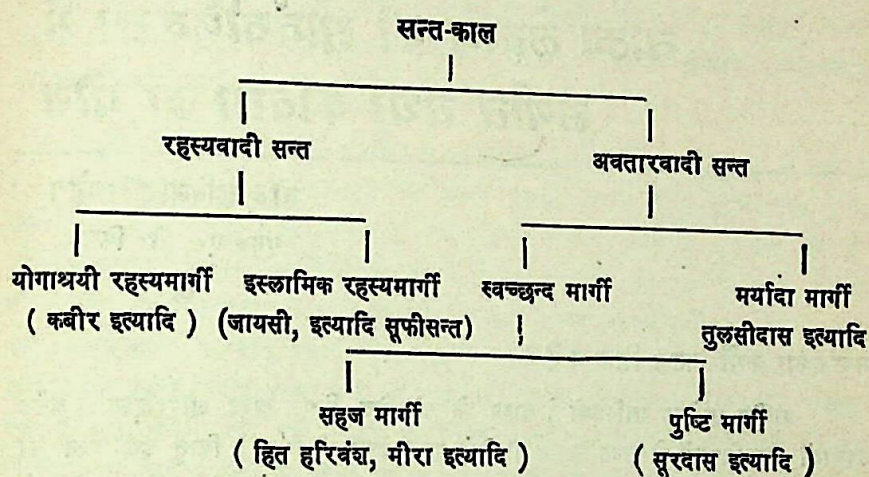
इस प्रकार के नामकरण, अन्तर्विभाग और उपअन्तर्विभागों से सबसे बड़ा लाभ यह हो सकता है कि जितने प्रकार के भक्त कवि हैं, उनकी आलोचना उन्हीं के प्रतिमान से की जा सकेगी, सब पर एक ही प्रतिमान का प्रयोग नहीं होगा और तब इनकी आलोचना भी न्यायपूर्ण एवं पक्षपात रहित हो सकेगी।

नाट्य लेखन की सार्वर्णिकता में संगीत तथा कविता का योग

डॉ० छविनाथ पाण्डेय
एम० ए०, डी० फिल्०

नाटककार क्यों नाटक लिखता है ?

प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किए, श्रव्य और दृश्य। अनेक आचार्यों और विद्वानों ने काव्य के इन दो भेदों का विवेचन भी किया है किन्तु इस प्रश्न की मीमांसा कभी नहीं की गयी कि कोई साहित्यकार नाटक लिखता क्यों हैं ? दृश्यकाव्य होने के कारण जब कोई नाटक रंगमंच पर दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है उस समय नाटककार का अस्तित्व पूर्णतः गुप्त रहता है। कोई भी दर्शक कभी यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि जो नाटक हमारे सम्मुख खेला गया है या खेला जा रहा है उसका रचयिता कौन है। किन्तु उन नाटक के अभिनेताओं का दर्शन करने के लिए सब लालायित रहते हैं। यद्यपि अनेक नाटककारों ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना व्यापक परिचय भी देने की आतुरता दिखाई है फिर भी दर्शकों को उसमें किसी प्रकार की कोई रुचि होती नहीं सुनी गई क्योंकि दर्शक तो नाटक देखने आता है। वह इस प्रकार की प्रस्तावना को निरर्थक मनोभार समझता रहा है। इतनी उपेक्षा होने पर भी कोई व्यक्ति नाटक क्यों लिखता है यह आश्चर्य का ही नहीं चिंता का विषय भी है। दर्शकों के मुख से अभिनेताओं की और गायकों की तो निरंतर प्रशंसा सुनी जाती है किंतु नाटककार का कोई नाम तक नहीं लेता फिर भी नाटक लिखे ही जाते हैं यह कम आश्चर्य की बात नहीं है उस पर भी विडंबना यह है कि नाटककार द्वारा प्रस्तुत विनोद, संवाद-कौशल और उत्तर प्रत्युत्तर के रस सबका सारा श्रेय अभिनेता लूट ले जाता है और दर्शक भी यही समझकर झूम उठते हैं कि क्या बात कही है मानों अभिनेता ही उस विनोद और संवाद के स्रष्टा हों। नाटककार को केवल इतना ही अवसर नहीं होता वरन् सभी नाट्य प्रयोक्ता और अभिनेता अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार उसकी रचना में कांट-छांट करके उसका संस्कार या कुसंस्कार कर डालते हैं और कभी-कभी तो नाट्य प्रयोक्ता स्वयं आदेश देकर नाटककार को अपनी इच्छा के अनुकूल ऐसा परिवर्तन करने के लिए बाध्य भी करते हैं जिसमें पात्रों की संख्या, संवाद, दृश्य-क्रम, सब में हेर फेर कर दिया जाता है।

चीनी नाटकों के समान कभी-कभी तो नाटकों को इतना अधिक परिवर्तित कर दिया जाता है कि नाटककार को स्वयं यह पहिचानना कठिन हो जाता है कि यह मेरा नाटक है भी या नहीं, क्योंकि वहाँ अभिनताओं को यह छूट है कि वे अपन पाठ को चाहें जिस व्यक्ति से चाहे जितना और चाहे जैसा बढ़ावा लें। अपनी और अपनी रचना की इतनी दुर्दशा होने पर भी नाटककार लिखते रहे और लिख रहे हैं और नाटक में इतना परिवर्तन नाटककार क्यों सहन करता रहा है यह अवश्य विचारणीय विषय है।

हमारे यहाँ कहा गया हैं—काव्येषु नाटकं रम्यम् (काव्य के सब रूपों में नाटक ही सबसे अधिक सुन्दर है। अरस्तु ने भी अपने काव्यशास्त्र (पेरि पोशितरखीस) में महाकाव्य (ईपिक पोइट्री) तथा नाटक (त्रासद) की तुलना करते हुए त्रासद को ही श्रेष्ठतर बताया है। कारण यह है कि नाटक के द्वारा जितनी सफलता के साथ दर्शकों को प्रभावित किया जा सकता है उतनी सफलता के साथ अन्य काव्य-रूपों के द्वारा संभव नहीं। प्रबंध काव्य, उपन्यास, कथा कहानी आदि में लेखक को सीधा उपदेश देने की सुविधा प्राप्त रहती है और प्रायः सभी साहित्यकारों ने अपनी वृत्ति के अनुसार उपदेश देने में कभी कोई कमी नहीं छोड़ी है किन्तु हमारे यहाँ साहित्यशास्त्रियों ने यह मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पहले से ही निर्धारित कर रक्खा है कि काव्य के द्वारा कान्ता सम्मित उपदेश दिया जाता है, शास्त्र के समान गुरु सम्मित या नीति ग्रन्थ के समान सुहृत् सम्मित उपदेश नहीं, इसीलिए वह उपदेश अधिक स्थायी होता है। साहित्य के उपर्युक्त सभी स्वरूपों में गुरु सम्मित तथा सुहृत् सम्मित उपदेश देने की संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं किंतु नाटक में सीधा उपदेश दिया ही नहीं जा सकता, नाटककार को जो कुछ भी प्रतिपादन करना होता है वह पात्रों के वक्तव्यों (संवादों) और व्यापारों (कार्यों) के द्वारा ही करता है। वह अत्यन्त परवश होकर नाट्य-प्रयोक्ता के परोक्ष अध्ययन से और अभिनेता के अपरोक्ष माध्यम से अपने यजमानों (दर्शकों) से सम्पर्क कर पाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाटक के द्वारा जितनी अधिक तीव्रता और सशक्तता से साथ दर्शकों को विभावित किया जा सकता है उतना और किसी काव्य-रूप के माध्यम से नहीं। इसीलिए अपनी उपेक्षा सहकर भी अनेक नाटककारों ने नाटक लिखे किन्तु लिख कितने पर भी उन्हें यह आत्मविश्वास नहीं हो पाया कि हमारी यह रचना रंगमंच पर भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगी या नहीं क्योंकि महाकवि कालिदास और सिद्ध नाटककार को भी अपने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक की भूमिका में यह कहना पड़ा था—'जब तक विद्वानों को सन्तोष न हो जाय तब तक नाट्य प्रयोग सफल नहीं माना जाता जा सकता क्योंकि अभिनेताओं को चाहे जितने अच्छे प्रकार से शिक्षा दी जाय फिर भी मन में यह भरोसा नहीं होता कि नाटक अच्छा ही उतरेगा।'

इस कथन से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की सफलता के परीक्षक दर्शक ही होते है, उन्हीं को तुष्ट करने के लिए नाटक लिखा जाता था और लिखा जाना चाहिए और उन्हीं की प्रशंसा या निन्दा ही नाटक की प्रशंसा या निन्दा है। खेलने

के लिए लिखित नाटक में परिवर्तन इसलिए किया जाता है कि नाट्य-प्रयोक्ता अपनी सुविधा देखकर पात्रों की संख्या और दृश्यों के क्रम में परिवर्तन कर लेता है। लम्बे, निरर्थक, सरलतापूर्वक कंठस्थ न हो सकने वाले और नीरस संवाद निकाल देता है जिससे अभिनेताओं को सुविधा हो, उन्हें अभिनय के अवसर मिलें जिससे नाटक प्रभावशाली बन सकें।

किन्तु आज नाटक लिखे जाते हैं—दर्शकों के लिए नहीं, नाट्यप्रयोक्ताओं के लिए नहीं, अभिनेताओं के लिए नहीं वरन् विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने के लिए जहाँ विद्यार्थियों की रुचि का भी कोई ध्यान नहीं रखा जाता क्योंकि ये नाटक के प्रारम्भ में लिखी हुई समालोचकों द्वारा पुस्तक के रूप में प्रस्तुत अथवा अध्यापकों द्वारा बताई हुई समीक्षा के आधार पर नाटक की आलोचना करके निश्चित हो जाते हैं और यद्यपि नाटककार स्वयं अपने नाटक में चरित्र-चित्रण कर चुकता है फिर भी छात्रों से कहा जाता हैं कि अमुक पात्रों के चरित्र-चित्रण कीजिये। तात्पर्य यह है कि आज नाटक खेलने के लिए नहीं वरन् कक्षा में पढ़ाये जाने के लिए लिखे जाते हैं इसलिए आज के अधिकांश नाटककार इस दृष्टि से नाटक लिखते हैं कि उनमें कुछ संवाद और गीत ऐसे साहित्यिक अर्थात् इतनें कठिन हो कि उन्हें परीक्षा में पूछा जा सके और उन्हें पढ़ाते समय पढ़ाते समय अध्यापक को अपने पाँडित्य का प्रदर्शन करने का अवसर मिल सके। इससे बढ़कर दृश्य-काव्य की और क्या दुर्गति की जा सकती है। इस प्रयास में इसे गूढ़ नाटक लिखे गए जिनके अनेक संवादों के अंश इतने दुरूह कठिन और लाक्षणिक है कि उनके अर्थ सम्भवतः नाटककार स्वयं भी न समझ पाता हो फिर अध्यापकों और छात्रों की तो बात ही क्या ?

हिन्दी साहित्य में नाटक के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही विश्वविद्यालयों के हिन्दी के प्राध्यापकों की ओर से भ्रम उत्पन्न कर दिया गया कि हिन्दी साहित्य में अभिनेय नाटकों की गति अवरुद्ध ही गई। उन्होंने नाटकों को दो, श्रेणिया निर्धारित कर दीं—साहित्यिक और बाजारू। साहित्यिक नाटक की परिभाषा ही यह समझ ली गई कि साहित्यिक नाटक वही है जो काव्य की दुरूह, लाक्षणिक, गूढ़ और सरलता से समक्ष में आनेवाली भाषा-शैली में लिखा जाय भले ही उसमें नाटक के अन्य लक्षण विद्यमान न हों।

सार्ववर्णिकता

नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में ही वर्णन आया है कि नाट्य के सम्बन्ध में इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी से स्पष्ट कहा था—"आप कोई ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइए जिसमें सब वर्णों के लोग समान रूप से आनन्द ले सकें क्योंकि जितने वैदितु व्यवहार हैं उन्हें शूद्र सुन भी नहीं पाता।" इससे स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य की उत्पत्ति के समय ही यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि नाटक केवल विद्वानों के लिए या किसी विशेष समुदाय अथवा वर्ग के लिए नहीं वरन् सब वर्णों, जातियों, समुदायों और वर्गों के लिए समान रूप से मनोरंजक खेल (क्रीडनीयक) होता है। यूनान में भी दिअनुसास देवता के सम्मान में

जो धार्मिक कर्मकांड के प्रसंग में उग्रस्तोत्रगान (दियुरम्ब) नृत्य और नाट्योत्सव होते थे वहाँ भी सब वर्गों के लोगों को समान रूप से दर्शक-कक्ष में स्थान प्राप्त होता था यहाँ तक कि राज्य ही अपनी ओर से दर्शकों का शुल्क भी देने लगा था। अतः नाटक और रंगमञ्च के पारस्परिक सम्बन्ध के महत्व का विचार करते समय स्वभावतः दर्शकों का महत्व भी आवश्यक रूप से विचारणीय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नाटक में दृश्यात्मक और अध्यात्मक तथ्य इस प्रकार से ग्रथित होना ही चाहिए कि केवल वयस्क लोग ही नहीं वरन् बालक और मूर्ख तक समान रूप से उसका आनन्द ले सकें। अतः नाटक में जितना भी दृश्यात्मक तत्व हों, जितना कुछ नाट्-व्यापार हो और जितनी दृश्य-सज्जा और वेश-सज्जा हो वह सब विभिन्न प्रकार की रुचि वाले दर्शकों के लिये समान रूप से अनुरंजक हो। इसी प्रकार जितना भी श्रव्य अंश अर्थात् वार्तालाप, संवाद, आकाश भाषित, आदि कथन अथवा गायन हो वह सब का सब समान रूप से सब प्रकार के दर्शकों के लिए सुबोध्य हो। महाकवि कालिदास का यह वचन भी पोषक है कि नाट्य विभिन्न प्रकार की रुचि वाले लोगों का समान रूप से मनोविनोद करने वाला होता है।

नाटक में संगीत

संयोगवश भारतीय, युनानी (यूरोपीय), जापानी और चीनी सभी प्राचीन पद्धतियों में समानरूप से गीत और नृत्य को भी नाटक का आवश्यक तत्व माना गया है किन्तु आजकल बहुत से नाटककार, नाट्य-प्रयोक्ता और नाट्य-शास्त्री संगीत-तत्व को नाटक का आवश्यक तत्व नहीं मानते। उनका तर्क है कि "यदि भारतीय और युनानी परिभाषा के अनुसार अनुकरण (मिमेसिस इमिटेशन) ही नाट्य है तो किसी भी नाटक में तबतक गीत और नृत्य का प्रयोग श्लाघ्य नहीं है जब तक कि वह किसी विशेष संगीत या संगीत-प्रिय पात्र की भूमिका में पात्र को प्रकृति के अंगीभूत करके अथवा विशेष उत्सव के प्रसंग में स्वाभाविक रूप से समाविष्ट न किया जाय। यद्यपि भरत ने नाट्य के चार तत्वों (पाठ्य, गीत, अभिनय और रस) में से गीत को भी प्रधान तत्व माना है किन्तु यह विचित्र बात है कि संस्कृत के अधिकांश नाटकों में भी संगीत तत्व का अभाव है। स्वयं महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय नाटकों में भी संगीत तत्व की उपेक्षा की गई है। केवल उनके मालविकाग्निमित्र नाटक में उसी स्थल पर संगीत तत्व की योजना की गई है जहाँ मालविका को नृत्य कला के बहाने उसे अग्निमित्र के सम्मुख सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करने वाले दृश्य की व्यवस्था है। अभिज्ञान शाकुन्तल में भी केवल नटी के द्वारा प्रस्तावना में गीत गवाया गया है नाटक के पात्रों द्वारा नहीं। भास, भवभूति, शूद्रक आदि सभी संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं में प्रायः संगीत का अभाव है। अतः भरत ने आदि-नाट्य के निर्माण में जिन चार तत्वों (पाठ्य, गीत, अभिनय और रस) का समावेश किया था उनमें से पीछे चलकर संस्कृत के नाटककारों में केवल तीन तत्वों के लिए ही आग्रह रह गया, चौथे संगीत तत्व की व्यापक रूप से उपेक्षा हुई। उसका कारण सम्भवतः यही रहा कि अधिकांश नाटकार काव्य के तो मर्मज्ञ पंडित थे किन्तु संगीत शास्त्र का उन्हें ज्ञान नहीं था। यूनान में

अस्कुलस, सफक्लेस, इडरिपिदेस और अरिस्तोफनेस आदि सुप्रसिद्ध नाटककारों ने प्रारम्भ में जो नाटक लिखे सब में गद्यात्मक संवाद का अभाव था और केवल गीतात्मक संवाद का ही प्रधान्य रहा। उनमें समवेतगान, गायक मण्डली (ओर केस्त्रा) का ही विशेष महत्व रहा और नाटकीय गीतात्मक संवाद अभिनेता और गायक वृन्द के बीच होता रहा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत तत्व (गीत, वाद्य और नृत्य) निश्चय ही सभी वर्गों और अवस्थाओं के जन समाज को मुग्ध करने का सब से अधिक शक्तिशाली और रोचक साधन है यहाँ तक कि मृग सर्प आदि जीवों को (भैंस को छोड़कर) भी वश में करने का एक मात्र साधन संगीत ही माना गया है। संस्कृत में एक उक्ति ही प्रसिद्ध है—'संगीतं कं न मोहयेत्' संगीत किसको नहीं मोहित करता। इसी के साथ-साथ यह उक्ति भी प्रसिद्ध है—काव्य से शास्त्र हार जाता है, गीत से काव्य हार जाता है, स्त्री विलास के आगे गीत भी हार जाता है और भूख के आगे स्त्री विलास भी हार जाता है और वह उक्ति तो सर्व प्रसिद्ध है हो—जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कला से विहीन है वह पूछ और सींग से हीन ऐसा पशु है जो भूसा न खाते हुए भी परम पशु के रूप में ही जी रहा है। शेक्सपीयर ने भी अपने दी मर्चेन्ट आफ वेनिस नाटक के एक पात्र से कहलाया है—"जिस मनुष्य में संगीत की रुचि नहीं है वह सर्वनाश, ध्वंस और विनाश का पात्र है। ऐसे व्यक्ति का विश्वास ही नहीं करना चाहिए।

संगीत तत्व की इतनी व्यापक महत्ता सिद्ध होते हुए भी संस्कृत के नाटक कारों तथा वर्तमान नाटककारों द्वारा इसकी उपेक्षा का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि अधिकांश नाटककार प्रायः कवि मात्र होते हैं जिन्हें संगीत का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यूनानी त्रासदकारों (अस्कुलस, सफक्लेस, इडरी पिदेस और प्रहसनकारों (अरिस्तोफनेस आदि) ने जो प्रारंभ के नाटक लिखे वे सभी संगीत प्रधान थे क्योंकि उनके नाटकों में अधिक कार्य समवेत-गायक (कोरस) ही करते थे, अभिनेता तो कुल एक दो या तीन ही होते थे। नाटककारों द्वारा संगीत की उपेक्षा का दुष्परिणाम यह हुआ कि नाटककारों को इस त्रुटि की पूर्ति नाट्य प्रयोक्ता लोग करने लगे जिसकी दूषित परम्परा भारतीय चलचित्रों में उतर आई है। इन नव्य नाट्य शास्त्रियों का मत है कि यह योजना प्रायः इतनी असम्बद्ध, असंगत, अनर्गल, अस्वाभाविक' अतिरेकपूर्ण और हास्यास्पद होती है कि मृत्यु के प्रसंग में भी राग ताल में बधें हुए गीत गवा देना भी उन्हें मूर्खतापूर्ण नहीं प्रतीत होता। किन्तु चीनी कवि युडचीने कहा है—"कविता करते हो तो उसे संगीत में भी ढालो अन्यथा वह निर्वसना स्त्री के समान अमंगल और अशोमनीय बनी रहेगी। नाट्य प्रयोक्ता भलीभांति जानते हैं कि नाटक के संवाद उसकी दृश्य-सज्जा और रूप सज्जा चाहे जितनी भी भव्य, चमत्कार पूर्ण और आकर्षक क्यों न हो किन्तु संगीत के बिना उससे दर्शकों का उचित मनोरंजन नहीं हो पाता। इसलिए वे जानबूझ कर स्वाभाविक रूप में अपने नाटकों में यथा-स्थान संगीत की योजना करते ही रहे हैं। प्रायः सभी देशों के दर्शकों में अधिकांश लोग ऐसे ही होते हैं जिन्हें इस बात का काम विवेक होता है कि नाटक की संगीत-योजना स्वाभाविक आवश्यक संगत और मनोवैज्ञानिक है या नहीं और यह विचित्र बात है कि अनावश्यक और

अस्वाभाविक संगीत योजना में भी दर्शकों के हृदय में सम्बद्ध रस की अनुभूति हो ही जाती है क्योंकि रसानुकूल शब्द योजना, राग योजना, गायक की भावानुकूल मुख मुद्रा, स्वर का आरोहावरोह तथा काकु के प्रयोग से उसका प्रभाव सिद्ध होता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में मृतक रोहिताश्व को गोद में लिए हुए शैव्या स्वाभाविक विलाप के रोदन स्वर में जब गीत गाती है तब उसका गीत केवल विलापमात्र से कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। किन्तु आज के नाटककार इस तत्व को अस्वाभाविक मानकर उसे निषिद्ध मानते हैं किन्तु वे नहीं जानते हैं कि विभिन्न रागों लयों और गतियों में बंधे हुए गीत गद्यात्मक संवाद की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली होते हैं। संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने संगीत-तत्व की उपेक्षा के दोष का परिहार करने के लिए यह मध्यम मार्ग निकाला था कि उन्होंने संगीत तत्व से पूर्ण कौशिकीवृत्ति वाले नाटकों की एक अलग श्रेणी ही निर्धारित कर दी थी और यह विधान बनाया था कि केवल (कौशिकी) वृत्तिवाले नाटकों में ही गीत नृत्य आदि की योजना की जाय, भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तिवालों में नहीं जैसे आजकल कथकलि, नौटंकी, रास, नृत्य नाट्य (डांस बैले) गीत नाट्य (औपरा) आदि में होता है, आरभटी वृत्ति (मार काट, इन्द्रजाल से युक्त) नाटकों में तो संगीत का पूर्ण अभाव होता है किन्तु भारती वृत्ति (संवाद प्रधान शैली) के नाटकों तथा सात्वती (सात्विकके भावों के प्रदर्शन वाली) वृत्ति के नाटकों में संगीत तत्व की कहीं कहीं परिमित योजना की जा सकती है। योरोप में भी इसी कारण औपरा रोमेंटिक, औपरा, फामूला, सात्रिका, लिब्रेती, श्ताम्पो, बलादा, कावारे, फास्टनारव्ट्स्पील, बेवरदी, ममरी, मास्क आदि अनेक प्रकार के संगीत-नाट्य चले। इसी प्रकार जावा में वाया ड० वी०, पाकेक और मिराग तथा जापान में कूरा, तमाये देगाकू, साम्पवारा तथा मत्सुरी नाटक नृत्य गीतात्मक नाट्य-प्रयोगों का प्रचलन हुआ। इस विवेचन से सिद्ध है कि दर्शकों के समाराधन की दृष्टि से नाटक में संगीत की स्वाभाविक योजना इसलिए अपेक्षित है कि वह मनोरंजन का सर्वाधिक सबल साधन है और इस दृष्टि से नाटक के श्रव्य पक्ष का सबसे अधिक शक्तिशाली उपादान है।

नाटक में कविता का प्रयोग

नाटक और उसके प्रयोग से संबंध रखने वाली जिज्ञासा के अंतर्गत पाठ्य अंश (सम्वाद) के साथ संगीत तत्व के संयोजन का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है छन्दोबद्ध कविता का प्रयोग। इस संबंध में भी वर्त्तमान नाटककारों, नाट्यशास्त्रियों, नाट्य-प्रयोक्ताओं, विश्व विश्रुत अभिनेताओं और अभिनेता व्यवस्थापकों का व्यापक मत है कि कविता भी नाटकीय काव्य अंश का महत्वपूर्ण अंग है किन्तु जिस प्रकार संगीत के लिए यह वह आवश्यक है कि उसकी योजना आवश्यक, संगत, स्वाभाविक, प्रसंगों में ही की जाय उसी प्रकार काव्य की योजना भी उन्हीं स्वाभाविक, संगत और आवश्यक स्थलों पर ही की जाय जहाँ किसी कविता की रचनाओं का पाठ करना आवश्यक हो अथवा बात-बात में निरंतर काव्य का उद्धारण देने वाले पात्र की योजना की गई हो। संस्कृत के नाटकों में तो संवाद के स्थान पर श्लोक डालने की व्यवस्थित और निर्बाध परम्परा रही है। शेक्सपियर ने भी अपने नाटकों में लयात्मक गद्य या अतुकांत पद्य (ब्लैंकवर्स) का उदार प्रयोग किया किन्तु उसके प्रयोग का कारण तो अँग्रेजी रंगमञ्च

की भावात्मक अभिनय पद्धति (सैंटीमेंटल ऐक्टिंग) थी फिर भी सम्वाद में कविता के प्रयोग की सम्भावना उसने स्पष्ट कर दी थी। भारत में भी पारसी रंग मंच के लिए जो उर्दू के (हिन्दी के भी) नाटक लिखे गये उनमें शैरो (पद्यों) की भरमार होती थी जिससे अभिनेता के वाचिक अभिनय में चमक और चमत्कार उत्पन्न हो जाता था। हमारे यहाँ तो गद्य को भी वृत्तानुगन्धी बताया गया है। अतः जब नाटक के श्रव्य तत्वों की योजना का प्रश्न उठता है तब उसके अन्तर्गत गद्य पाठ्य या गद्यात्मक संवाद, कविता (पद्य) तथा संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य) तीनों का संयोजन स्वाभाविक रूप से सन्निहित होता है इस श्रव्य तत्व में से केवल नृत्य तत्व ऐसा है जो श्रव्य और दृश्य दोनों है क्योंकि किंकिणी नूपुर-हस्तपुर आदि की ताल-बद्ध ध्वनि तथा नर्त्तकी के द्वारा गाए हुए गीत की दृष्टि से तो वह श्रव्य है और उसकी ललित, हाव भाव पूर्ण, नृत्य चेष्टाओं तथा वृत्त गतियों के कारण दृश्य भी है। दृश्य और श्रव्य होने के कारण यह आवश्यक है कि नाटक रंगमञ्च पर अभिनेताओं के द्वारा प्रस्तुत किया जाय।

इन सब पक्षों से विचार करने पर नाटक की परिभाषा स्थिर करना अत्यंत सुगम हो जाता है और यह भी निश्चित हो जाता है कि नाटक में दो गुण अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं।

१. नाटक में रंगमञ्च पर खेले जा सकने की योग्यता होनी ही चाहिए।

२. उसमें ऐसे श्रव्य और दृश्य तत्वों का संयोजन हो कि वह सब वर्गों, रुचियों और अवस्थाओं के दर्शकों के द्वारा सदा समान रूप ले आहृत हों।

अतः नाटक वह रचना या खेल है जिसके आधार पर नट लोग नाटक में सन्निहित पात्रों की भूमिका ग्रहण करके दर्शकों के सम्मुख रंगमञ्च पर उन पात्रों के लिए नाटककार द्वारा निर्दिष्ट व्यापार करते और संवाद कहते हो। नाटक के पात्रों का यह अनुकरण या रूप धारण ही रूपक या नाटक का वास्तविक मुख्य तत्व है। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी जन-समुदाय के सम्मुख कोई भी व्यक्ति अनुकरणात्मक प्रदर्शन करने लगे तो वह प्रदर्शन नाटक कहलाने लगे। नाटक की संज्ञा प्राप्त करने के लिए एक लिखा हुआ नाटक होना चाहिए (यद्यपि कभी कभी बिना लिखे हुए नाटक भी खेले गए जैसे अभिनव भरत पं० सीताराम चतुर्वेदी का राम बनवास) जिसके आधार पर किसी कुशल नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाए हुए अभिनेता रंगमञ्च पर अपने आंगिक, वाचिक, सात्विक आहार्य अभिनय के द्वारा नाटक में निर्दिष्ट दृश्य और श्रव्य व्यापारों से जनता का मनोरंजन कर सकें, उनके हृदय में रस (सात्विक आनन्द) उत्पन्न कर सकें, उन्हें जीवनोपयोगी उपदेश देते हुए उनके मन को शान्ति प्रदान कर सकें।

बाल रूप—
भक्त कवियों की दृष्टि में

डॉ० जयशीला
एम० ए०, पी० एच–डी०

भक्त कवियों ने रूप वर्णन के अन्तर्गत इष्ट बालक के नख से शिख तक का अत्यन्त सटीक और विशद वर्णन किया है और प्रत्येक अंग के सौन्दर्य को समुचित उपमानों के द्वारातीव्रता के साथ व्यंजित करके उन अंगों के सौष्ठव का वर्णन किया है। इसी आंगिक रूप चित्रण को और भी अधिक सौन्दर्य भावित करने के लिए उनके प्रसाधन, शृङ्गार, वस्त्र और आभूषण आदि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। सूरदास ने सेवा-कार्य (अवसर पर कृष्ण सम्बन्धी गीत गाने के लिये) पर नियुक्त होने के कारण उस प्रकार के वर्णनों की बहुत आवृत्ति की है इसीलिये सूर सागर में एक ही प्रकार के रूप वर्णन, प्रसाधन वर्णन अनेक पदों में प्राप्त हैं।

नख शिख वर्णन

जिस प्रकार से रीति कालीन कवियों ने नख-शिख का वर्णन किया है अर्थात् पैर के नख, उँगलियों, गुल्फ, चरण, जंघा, उरु, कटि, नाभि, हाथ, हाथ की उँगलियाँ, कंठ, मुख, चिबुक, दंत, अधर, कपोल, नासिका, नेत्र, भौंह, ललाट और केश का क्रमिक वर्णन किया है। उस क्रम से तो भक्त कवियों ने नख-शिख वर्णन नहीं किया है किन्तु जहाँ जिस प्रसंग में जिस अंगका जिस अंग के सोष्ठवका वर्णन अभीष्ट हुआ वहाँ उन्होंने उस अंग या उन अंगों का सुन्दर संश्लिष्ट वर्णन अवश्य किया है और उस वर्णन के प्रसंग में माता-पिता आदि की वात्सल्यमयी प्रतिक्रिया-का भी साथ-साथ विवरण दिया है।

बाल रूप वर्णनकी दो पद्धतियाँ

बाल-रूप-वर्णन की पद्धति संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक दो प्रकारकी होती है। प्राय: कवियों ने विश्लेषणात्मक पद्धति का ही अवलंब लिया है अर्थात् वे अपने वर्णन में पात्रों के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्यका अलग-अलग वर्णन करते हैं और उन अंगों के वस्त्र भूषण आदि का भी अलग-अलग वर्णन करते हैं। कहीं-कहीं ऐसे संश्लिष्ट वर्णन अवश्य आए हैं जहाँ रूप वस्त्राभूषण और चेष्टा सभी के समन्वय से वर्ण्य विषय को आकर्षक और मनोहर बना दिया गया है किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। प्राय: रूप वर्णन में शरीर के विभिन्न अंगों को सुघरता, सुन्दरता, स्निग्धता और चारुता का ही विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है किन्तु कहीं-कहीं ऐसे कौशलों से रूप वर्णन किया गया है कि उनमें अंगों का अर्थात् वर्ण्य वस्तुओं का नाम ही नहीं है। सूरदास का ऐसा ही यह अद्भुत पद है—

विधातहिं चूक परी मैं जानी।
आजु गोविन्दहिं देखि-देखि हौं, इहै समुझि पछितानी॥
रचि पचि सोचि सवारि सकल अंग, चतुर चतुरई ठानी।
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति, इतनिहि कला नसानी॥
कहा कहौं अति सुख दुइ नैना, भरत चलत ढरि पानी।
सूर सुमेरु समाइ कहाँ धौं, विधि वासनी पुरानी॥

कविने अत्यन्त सुकुमार बालरूपका अद्भुत वर्णन करते हुए एक गोपीसे कहलाया है कि आज बाल गोविन्द को देख-देख कर मैं अपने मनमें यही पछता-पछताकर रह गई कि ब्रह्मासे बड़ी भूल हो गई। ब्रह्माने बड़े परिश्रम से हमें बनाया और सोच-समझकर सब अंग ठीक बनाये और इस प्रकार ब्रह्माने सारी चतुराई दिखा दी किन्तु एक ही भूल उससे हो गई कि उसने हमारे रोम-रोम पर आखें नहीं बना दी। एक ओर तो उसने श्रीकृष्ण के बालरूपका इतना दिव्य अगाध सौन्दर्य दिया किन्तु दूसरी ओर उसे देखनेको आखें केवल दो ही दीं जिनमें प्रेमाश्रु भर आने के कारण देखना भी बंद हो जाता है। इस पद में कृष्ण के किसी अंग या उनके शृङ्गारका कोई वर्णन नहीं है फिर भी श्रीकृष्णके सौन्दर्यका यह सर्वश्रेष्ठ वर्णन माना जाता है।

जिन भक्त कवियोंने अपने बाल इष्ट देवों के वर्णन किए हैं उन सभी ने प्राय: एक ही पद्धतिका अनुसरण किया है—शरीरपर झिंगुली, सिर पर चौतनी, गलेमें कठुला, विभिन्न अंगों में आभूषण आदि के वर्णन लगभग एकसे हैं और निम्नांकित विवरणसे यह स्पष्ट हो

जायगा कि उक्त रूप वर्णनमें बहुत आवृत्ति हुई है और यह आवृत्ति सभी कवियोंके वर्णनोंमें व्यापक रूपसे विद्यमान है। मुक्तक पदोंमें तो एक-एक समयका रूप-वर्णन होता है। अतः जितनी बार उस रूपका वर्णन कराया जायगा उतनी बार वह वैसा ही होगा।

बाल रूप वर्णनमें सूरदासकी विशेषता

जिस प्रकार चेष्टाओंके वर्णनमें सूरदासने असंख्य परिस्थितियोंकी चेष्टाओंका वर्णन करके सब कवियोंको परास्त किया है उसी प्रकार बाल-छवि या बाल-रूपके वर्णनमें भी उन्होंने वैसा ही कौशल दिखलाया है। उनके दिव्य चक्षुओंने सात दिनके बाल कृष्णके लाल ओठ, हाथ और पैर देख लिये (४२ से ५५ पद तक)। सात दिनके बाल कृष्णके अरुण अधर और लाल कोमल चरण देखकर माता यशोदा मग्न हो जाती है (४८)। एक गोपी माता यशोदासे बाल कृष्णको गोदमें लेकर देखती है कि कमलके समान उनके पैर हैं। मनोहर अधर, सुन्दर नासिका, घुंघराले बाल और गलेमें कंठा सबका मन लुभाए ले रहे है। इसमें रूप सौन्दर्य और आभरणसे सम्बन्धित सौन्दर्य दोनोंका साथ-साथ वर्णन हुआ है (५५)। कृष्ण द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ते हैं (५६)। उनकी लहराती हुई घुंघराली लटें कैसी शोभा दे रही हैं, कितनी मनमोहक हैं (६५)। कुडीठों की कुदृष्टि बचाने के लिये और भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदिसे रक्षा के लिये उनके गले में कठुला, हीरा और बाघका नख डोरे में पिरो कर बाँध रक्खा है, उनके माथे पर कस्तूरी का काला डिठोना लगा हुआ है (४८)। उनके शरीर पर झिंगुली (ढीला कुरता), सिर पर लाल चौतनी, और दोनों हाथों पैरों में कड़े पहनाए हुए हैं (८९)। उनके कपोल, अधर, नन्हें-नन्हें दाँत, कोमल जीभ, नाक और बड़ी-बड़ी आखें सबका मन मोहे ले रही हैं (९०,९१)। उनके माथेका डिठोना भी कम मोहक नहीं है।

घुंघराले बाल, अलसाई आखें, झंपती खुलती पलकें, सिरके नीचे हाथ रखकर सोने का उपक्रम करते हुए कृष्ण की शोभा का संश्लिष्ट वर्णन किया गया है (६४)। पालने में पड़े हुए ऊपर लटके खिलौने को पकड़ने के लिये किलकारी मारकर दतुलिया चमकाने वाले और गले में कठुला तथा बघनखा और माथे पर डिठौना दिए हुए कृष्ण की अनुपम शोभा का रूप भी कवि की दृष्टि से छिपा नहीं है (८४)। तन पर मनोहर झंगुलिया सिरपर लाल चितौनी और दोनों हाथों में कड़े पहने हुए कृष्ण कितने मनोहर लगते है (८९)। मनोहर चितवन, सुन्दर कपोल, लाल अधर, नन्हें-नन्हें दांत, सुन्दर उठी हुई शुकके समान नाक, विशाल आखें, कितनी मनोहर हैं (९०)। घुंघराली लटें,

माथे पर काजल का डिठोना, सुन्दर रसीली ग्राखें, उनमें लगा ग्रौर कपोलों पर फैला काजल, दतुलियाँ निकालकर हँसना ग्रौर दोनों ग्रोठों के बीच दतुलिया चमकाना कम ग्राकर्षक नहीं है (१६,६२,६३)। डिठोने के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए सूरदास ग्रघाते नहीं। उन्होंने बड़े विस्तर के साथ डिठोना लगे हुए बाले कृष्ण के मुखका ग्रत्यन्त तन्मयतापूर्ण चित्रण किया है।

उनके मुखमें नीचे ऊपर दो दो दतुलियाँ झलक ग्राई हैं, उनके सिर पर बालों को समेट कर जटा बना दी गई है, उनके माथे पर तिलक है, गले में कठुला, नीलमणि, सिंह का नख ग्रौर कमल की माला हैं। वे शरीर पर धूल लपेटे हुए हैं फिर भी मनमोहक लग रहे हैं। इस प्रकार जटा बाँधकर उन्हें महादेव जी के समान बना दिया गया है। उनकी कटि में सोने की करधनी है, उनकी लटें बिखरी हुई कितनी मोहक लग रही हैं।

ऊपर नीचे की दो दो चमकती दतुलियों की शोभा भी कवियों के लिये कम ग्राकर्षक नहीं रही इसीलिये उसका वर्णन भी उन्होंने ग्रधिक मनोयोग के साथ किया है। सिर पर बालों को समेट कर बनाई हुई जटा, माथे पर तिलक, गले में कठुला, नीलमणि, कमल को माला ग्रौर व्याघ्र का नख पहने हुए धूलधूसरित बाल कृष्ण की छवि कम प्रमोददायक नहीं है (१७१)। कभी-कभी बाल कृष्ण की जटाएँ बाँधकर उन्हें शिव रूपमें प्रस्तुत करना भी माता को ग्रच्छा लगता है। कमर में सोने की करधनी पहने हुए, ग्रपने लम्बे घुँघराले बाल झटकारते हुए ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए कृष्ण ग्रत्यंत सुन्दर प्रतीत होते हैं (१८४)। उनके मनोहर वचन ग्रौर लाल लाल पैरोंपर मनोहर चालसे इधर-उधर चलना कितना मनमोहक है (१८५)।

उनके लाल पैर ग्रौर साँवला शरीर सब बड़े मोहक हैं, उनकी ग्राखें बड़ी-बड़ी हैं, उनके सावले रंग पर गौवों के खुरों से उड़ी हुई धूल बड़ी सुन्दर लग रही है। उनके मुकुट-के पार्श्व से लटें लटक रहीं है। कमल के समान उनका मुख है ग्रौर गले में बघनखा है। उनके शरीर का रंग सांवला है उनके शरीर पर मोर मुकुट, कानों में लटकते हुए कुण्डल, चमकीले दाँत, गले में मोतियों की माला, छाती पर बनमाला है। हाथों में पहुँची ग्रौर मुरली के कारण उनका रूप इतना सुन्दर है कि उसे देखकर कौन मंत्रमुग्ध नहीं हो जायगा। उनके सुन्दर कपोल, मनोहर नख, सुहावने कुण्डल, चपल विशाल नेत्र, कमनीय ग्रीवा ग्रौर विशाल बाहु सभी ग्रत्यन्त ग्राकर्षक हैं (४७२ से ४७६)। उनके सिरपर मोर मुकुट, गले-में बनमाला ग्रौर शरीर पर पीताम्बर सुशोभित है। उनके सिर पर मोर-पंखोंका मुकुट,

कानों में मकराकृत कुण्डल, बड़ी-बड़ी आखें, गले में वनमाला और शरीर पर पीताम्बर शोभा दे रहा है।

नंद दास द्वारा बाल छबि वर्णन

नंददास ने भी बाल कृष्ण के रूप का ऐसा ही वर्णन किया है कि उनके माथे पर लटों की लटकन, सुन्दर भाल, दोनों कपोलों पर सुन्दर चखौड़ा लगा हुआ है। उनकी कटि में करधनी और पैरों में सुन्दर झमकने वाली पैजनी है। पृ० २१३।

परमानंददास-द्वारा बाल छबि वर्णन—

परमानंददास ने भी वाल कृष्ण के शरस पर लटकती हुई लटकन, कमल के समान सुन्दर बड़े बड़े नेत्र, नन्हें नन्हें दूध के दांत और पैजनी का वर्णन किया है। उनके वर्णन के अनुसार वाल कृष्ण के माथे पर काजल का टीका, कंठ में कठुला और शरीर पर पीताम्बर सुशोभित है (४५)। उनकी आखों में तो काजल लगा ही है, उनके गाल पर भी काजल का टीका लगा हुआ है (४६)। उनके गले में सुन्दर मोतियों का हार और बघनखा वंधा है (६२), उनकी कटि में ऐसा झीना कपड़ा लिपटा है कि उसमें से उनके शरीर की सारी सुन्दरता झलकी पड़ रही है। उनके पैरों में पैजनिया हैं और सिर से लटें लटक रही हैं, उनके हाथों में पहुँची है और पैरों में नूपुर बज रहे हैं। (६६) उनका शरीर कमल के समान कोमल है, उनके सिर पर घुंघराले सुन्दर केश हैं, कानों में मकराकत कुण्डल है और कटि में बंधी हुई किंकिणी की मधुर ध्वनि बड़ी सुहावनी लग रही है। उनके पैरों में नूपुर कटि में करधनी और शरीर पर नीला पीला वस्त्र है (७७), उनकी आखें कमल के समान हैं, उनके पावों में पैजनी और लाल लाल ओठ हैं (८६), उनके कानों में कुण्डल, माथेपर मुकुट और देह पर पीताम्बर है (१२०)।

नंददास और परमानंददास ने जो रूप वर्णन किया हैं वह न तो पूर्ण है न संश्लिष्ट है न व्यवस्थित। प्रायः सभी ने सूर की ही वर्णन-पद्धति का थोड़ा बहुत अनुसरण और अनुकरण किया है।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा बाल छबि वर्णन—

राम-चरित-मानसमें बाल-रूप वर्णन का और उनकी चेष्टाओं का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने राम के रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि करोड़ों काम की सुन्दरता वाला उनका शरीर नीले कमल और गंभीर बादलों के समान साँवला था, उनके

चरण कमल लाल थे जिन पर उनके नखों की ज्योति ऐसी प्रतीत होती थी मानों कमल की पंखुरियों पर मोती जड़े हों। उन पैरों के तलुओं पर ध्वजा और अंकुश की रेखाएं शोभा दे रही थीं। वे जब नूपुर पहन कर चलने लगते थे तब उनकी ध्वनि सुनकर मुनियों का मन भी मोहित हो जाता था। उनकी कटि में बजने वाली करधनी बंधी हुई थी और पतले उदरपर तीन रेखाएँ बनी थीं, उनकी नाभि गहरी थी, भुजाएं बड़ी थीं और आभूषणों से सुसज्जित थीं। उनके हृदयपर डोरे में गुंथा हुआ व्याघ्र नख बड़ी शोभा दे रहा था। हृदय पर लटका हुआ मणियों का हार और उसमें पदिक की शोभा में भृगु के चरण की छाया दिखाई पड़ती थी। उनका कंठ शंख के समान था, ठोढी बड़ी सुन्दर थी और मुख पर अनन्त कामदेव की शोभा छाई थी। उनके लाल लाल ओठों के बीच में नीचे ऊपर भी दतुलियाँ शोभा दे रही थीं और नाक के ऊपर सुन्दर तिलक लगा हुआ था, सुन्दर कान और कपोल थे और उनके तोतले वचन बड़े प्यारे और मीठे लगते थे। उनके सिर के बाल चिकने और गुंथे हुए थे जिनको माता ने बहुत सवांर दिया था। शरीर पर पीली झँगुलिया पहने हुए थे। उनका घुटनों और हाथों पर चलना बहुत अच्छा लग रहा था. १९८, १९९।

बालरूप के ये सब वर्णन भक्त कवियों में लगभग समान रूप के ही हैं। इसमें कोई नवीनता, विलक्षणता, अद्भुतता या असाधारणता नहीं है। उनके सभी अंग सुन्दर, आकर्षक, मनमोहक हैं और वे वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित होने पर अथवा धूल में लिपटे होने पर भी सुन्दर लगते हैं।

———

हिन्दी में गीतनाट्य

धर्मशील चतुर्वेदी

हिन्दी में गीत-नाव्य के संबंध में जितना कम विचार हुआ है उतना अन्य विधाओं में नहीं। यही कारण है कि हिन्दी नाटकों के विचार क्रम के साथ ही जिन लोगों ने इस पक्ष पर एक अध्याय दे दिया है वही सब कुछ माना जाने लगा। ये छिट-पुट विचार भी अत्यन्त भ्रामक तथा वैयक्तिक हैं।

संगीत-गीत-नृत्य-नाव्य या गीत नाव्य की उत्पत्ति के लिये नाटकों की प्राचीन भारतीय परंपरा के पीछे जाना बौद्धिक दृष्टि से युक्तिपूर्ण नहीं, हाँ, हल्की राष्ट्रवादिताके आवेश में अवश्य ही उल्टे सीधे खींचतान कर यह सिद्ध किया जा सकता है कि संस्कृत तथा उसके पश्चात् भारतेन्दुपूर्व परम्परा से पद्यमय नाटक दीख पड़ते हैं, जिन्हें थोड़े समझौते के साथ इस विद्या के साथ जोड़ा जा सकता है। किन्तु तार्किक और विकास क्रम की दृष्टि से वर्त्तमान गीतनाव्यों को उल्लिखित के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। क्योंकि इनका परम्परा के साथ उतना तादात्म्य नहीं जितना पाश्चात्य गीतनाव्य शैली के साथ है।

सर्वप्रथम १५६४ ई० में फ्लोरेन्स की पालाजो कोरसी नामक नाव्यशाला में रिनुच्चिनी ने उदात्त यूनानी त्रासदों को पुनर्भावित करने के लिये 'दाफने' नामक नाटक प्रस्तुत किया जिसके सब संवाद गीतमय थे। यही सबसे पहला गीत नाव्य कहा जा सकता है। किन्तु योरोपीय पुनर्जागरण काल में विधिवत इस धारा का विकास हुआ था। १६३७ तथा १७०० ई० के बीच रोम, नेपिल्स और वेनिस में लगभग तीन सौ गीत-नाव्य

लिखे गये जिसमें अकेले चेस्टी ने डेढ़ सौ के लगभग गीत नाट्य लिखे। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से नेपिल्स के गीतनाट्यों ने सम्पूर्ण योरप में घूम मचा दी। इस वातावरण से प्रभावित होकर मिंगोत्ती, लोचातेल्ली और पेरुज्ञी की गीत-नाट्य मंडलिया सम्पूर्ण योरप में घूमती रहीं। ये गीत नाट्य इस मंडलियों के हाथ में आकर केवल गीत-मात्र नहीं रह गये, उसके साथ अन्य बहुत,सी कलायें भी आकर जुटती गई—संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूकाभिनय, दृश्य विधान के अनेक प्रकार तथा अन्य तकनीकी प्रयोग। इसी आधार पर प्रारम्भ में ही मैंने संगीत-गीत-नृत्य-नाट्य शब्द का प्रयोग किया है, जिसे सूत्र रूप में गीत नाट्य ही कहा जा सकता है।

बङ्गाल में गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने अत्यन्त प्रौढ़ गीत नाट्यों की रचना की है और स्वयं ही उन्होंने रङ्गमञ्चीय प्रयोग भी किये। शान्ति निकेतन के लिये धन संग्रह करने के लिये उनका यह दल सारे भारत में यात्रा कर चुका है। इस भारतीय परम्परा का यदि इतिहास ढूँढ़ा जाय तो यात्रा, रास, स्वांग और नौटंकी के रूप में संगीत नाट्य के अपरिष्कृत रूप हमें बहुत पहले से ही दीख पड़ेंगे। डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत महाविद्यालय में भाषण देते हुए, दक्षिण भारत में गीत नाट्य के व्यापक प्रचार की बात के साथ ही इधर की अपेक्षा प्राचीनता सिद्ध की थी।

गीतनाट्य के इतिहास की इस चर्चा का एक उद्देश्य यह भी है कि विकास क्रम से गीतनाट्य का जो रूप आजतक बनता आया है वह अत्यन्त भव्य है और इस प्रकाश में जब हम हिन्दी के गीतनाट्यों का अध्ययन करते हैं तो कुछ प्रश्न उठते हैं, क्या केवल छन्दोमय संवादों के हम संगीत-गीत-नाट्य के इस अत्यन्त सुनिश्चित और गतिमय नियमों के अन्तर्गत रखकर उन्हें गीत नाट्य कह सकते हैं? इधर हिन्दी के कुछ नये नाट्य समीक्षकों ने गीतमय संवादोंके आधार पर नये अन्वेषण का अज्ञानपूर्ण दर्प प्रदर्शित किया है और कुछ अनाधिकारिक कृतियों को गीतनाट्य के दायरे में रखकर उच्चासन प्रदान किया है। इन्हें इस प्रकाश में यह देखना चाहिए कि क्या गीतनाट्यों के विकास क्रम के अनुसार जिन्हें वे गीतनाट्य कहते हैं वे योरप में लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व दफन नहीं हो गये हैं।

डा० बच्चन सिंह "हिन्दी नाटक" में प्रसाद के "करुणालय" को हिन्दी का सर्व प्रथम गीतनाट्य घोषित करते हैं। जब कि गीत नाट्य के लिये नितान्त आवश्यक तत्त्व के रूप में जिस पक्ष पर स्वयं उन्होंने बल दिया है उसका अभाव है, रामचन्द्र महेन्द्र

"प्रसाद का साहित्य" में कहते हैं—इस (करुणालय) नाटक में गीत-नाट्य का प्राणतत्त्व मानसिक संघर्ष बड़ा शिथिल है। लगभग नहीं के बराबर है। ···न कवित्व न नाट्यकला की दृष्टि से ही इसे सफल कहा जा सकता है।"

डा० सिंह ने श्री मैथलीशरण गुप्त के 'अनघ', श्री भगवती चरण वर्मा के 'तारा' को भी इस सीमा में लिया हैं। प्रमाण के लिये उन्होंने ढूंढ़ ढूंढ़ कर मानसिक अन्तर्द्वन्द की स्थितियाँ भी दी हैं, पर इसे ही गीत-नाट्य का मूल मान बैठना, एक पक्षीय और आंशिक दृष्टिकोण है। इन्हें पद्यमय संवादों या अन्य किसी नाट्य के रूप में रखा जा सकता है। हां, श्री उदय शंकर भट्ट की कृतियाँ बहुत कुछ अंशों में गीत-नाट्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। श्री भट्ट के गीतनाट्यों की सफलता का मूल उनका संगीत बोध, ध्वनि ज्ञान, नाट्य विधान आदि है, इनसे संयुक्त होकर कविकर्म निखर उठा है। किन्तु कलेवर की दृष्टि से इनकी कृतियाँ गीत-नाट्य के परिवेश में पूर्णतः नहीं आ पाती।

यही स्थिति श्री सुमित्रानन्दन पन्त के साथ भी है। उन्होंने कुछ छोटे-छोटे गीत-नाट्यों का दो संग्रह दिया है, जिसे कलेवर और पूर्णता की दृष्टि से गीतनाट्य के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। इस आधार पर यदि स्वयं पन्त जी ने ही इनके लिये 'काव्य रूपक' का प्रयोग किया है तो वह सार्थक तथा उचित ही है, डा० बच्चन सिंह निरर्थक ही इन्हें गीत-नाट्य में खींच लाने के लिये उतावले हैं। यह तो वैसे ही हुआ कि मैं कहूं मेरी भैंस काली है और पीत रोग से ग्रसित रोगी यह कहने के लिये हठ करे कि नहीं पीली है, पूर्णतः पीली।

डा० बच्चन सिंह का यह मत भी पूर्णतः भ्रामक तथा तथ्यहीन है—"अभी हाल में धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' गीत-नाट्य प्रकाशित हुआ है। यह कई दृष्टियों से हिन्दी गीत-नाट्य-परम्परा में एक नया मोड़ उपस्थित करता है। इसके पूर्व हिन्दी में जो भी गीत-नाट्य लिखे गये ये एकांकी गीत-नाट्य ने। 'अन्धायुग' हिन्दी का एकांकी गीत-नाट्य न होकर पहला पूर्ण गीत-नाट्य है। "डा० बच्चन सिंह के सूचनार्थ निवेदन है कि पं० सीताराम चतुर्वेदी का" गौतम बुद्ध गीतनाट्य पूरा पूर्ण गीत-नाट्य है और १९४७ में बम्बई में एक्सेलसियर थियेटर में लगातार पन्द्रह दिनों तक खेला जा चुका है, उसी समय वह पुस्तकाकार रूप में भी वहीं से प्रकाशित हुआ था और अब दूसरा या तीसरा संस्करण भी हो चुका है।

डा० श्रीपति त्रिपाठी ने "हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव" पुस्तक में श्री सिंह से अधिक नाम जोड़े हैं। श्री आरसी प्रसाद सिंह की "धूप-छाँह" तथा "मदनिका",

श्री दिनकर की "मगध-महिमा", तथा हिमालय का संदेश", निराला का "पंचवटी प्रसंग" आदि। इन सभी में गीतात्मकता के प्रति आग्रह के साथ ही सुवादों की बोझिलता है जो गीतनाट्य के आधुनिक विचारों से पूर्ण नहीं। श्री त्रिपाठी ने श्री उदय शंकर भट्ट के गीतनाट्यों को विभाजन के अनुसार 'भाव-नाट्य' के अन्तर्गत रखा है, यद्यपि यह विभाजन पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्तों पर आधारित है किन्तु मेरी दृष्टि से यह उचित ही है और श्री त्रिपाठी का यह मत मुझे डा० बच्चन सिंह के विभाजन की अपेक्षा अधिक तर्क संगत तथा उपयुक्त प्रतीत हुआ।

"आन्धा युग" और 'गौतम बुद्ध' के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। मंचीय प्रयोग के समय अन्धायुग के मुक्त छन्द उतने प्रभावशाली नहीं रह जाते वरन ऊब भी उत्पन्न हो जाती है जब कि 'गौतम बुद्ध' के सरस गीत संगीत की विभिन्न राग रागनियों के स्पष्ट निर्देश से पुष्ट होकर अत्यन्त प्रभावशाली हो जाते हैं। डा० सिंह ने अत्यन्त विस्तार के साथ अन्तर्द्वन्द का वर्णन और अन्धायुग की अन्ध प्रशंसा की है। इस दृष्टि से भी 'गौतम बुद्ध' अधिक समर्थ कृति हैं, इसकी कथा प्रारम्भ होती है राहुल के जन्म से, ठीक बाद ही जरा आदि के दर्शन के कारण सिद्धार्थ का मानव मंथन प्रारम्भ हो जाता है और इसके पश्चात् महाभिनिष्क्रमण में अतीव अन्तर्द्वन्द की स्थिति, फिर यशोधरा और राहुल का मानसिक अन्तर्द्वन्द, अन्त में गौतम का भिक्षाटन के लिये आगमन। यह सम्पूर्ण स्थल घोरतम मानसिक अन्तर्द्वन्दों का है और इसका निर्वाह भी अत्यन्त कोमल तथा सजगता के साथ हुआ है। "अन्धायुग" रेडियो के भावनाट्य के रूप में अवश्य ही कुछ सफल हो सकता है क्योंकि इसकी ध्वनि योजना प्रभावशाली है। 'अन्धायुग' की अपेक्षा गौतम बुद्ध कम संवाद बोझिल हैं।

इस सन्दर्भ में यदि हम गीतनाट्य के शास्त्रीय रूप का भी अध्ययन करते चलें तो निश्चय ही समझने में सहायता मिल सकेगी। पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखित "अभिनव नाट्य शास्त्र" ग्रन्थ के अनुसार—"गीतनाट्य के निम्नलिखित अंग होते हैं—प्रस्तावना, कथा, संवादाभिनय, गीत, नर्त्तन।" इस प्रकार गीतनाट्य के संवाद गीतमय तो होते हैं किन्तु उन्हें अभिनेता स्वयं नहीं गाते वरन एक गायक मण्डली मञ्च के पार्श्व से या अग्रभाग से गाती है, इस समूह में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि गायक होते हैं जो पात्र के संवाद या अभिनय का अंश गाते चलते हैं। पात्र केवल गीत भाव का अभिनय करते हैं। कथा भाग या तो भावनटी द्वारा प्रस्तुत कराया जाना चाहिए या गायक मण्डली द्वारा गीतों से। गीतनाट्य की एक प्रमुख कसौटी यह है कि संवाद विधान अत्यन्त अल्प होना चाहिए।

इस तुला पर श्री चतुर्वेदी का 'गौतम बुद्ध' सर्वथा प्रतिनिधि तथा एक मात्र है। साथ ही 'अन्धायुग' से पूर्ववर्ती होने के कारण यह हिन्दी का सर्वप्रथम पूर्ण गीत-नाट्य भी कहा जा सकता है। शास्त्रीय पृष्ठभूमि के साथ ही गीतानाट्य के विकास क्रम की प्रत्येक प्रवृत्तिका भी इसमें समावेश है, गीत, नृत्य संगीत, कला आदि इन सबका प्रयोग इतना अनुपातिक और सुसंवद्ध है कि सम्पूर्ण कथा में एक आन्तरिक सुदृढ़ता आ जाती है। प्रथम प्रयोग के समय प्रसिद्ध संगीतकारों तथा गायक वृन्दों में सुश्री लता मंगेशकर तथा समूह का सहयोग इस तथ्य को सिद्ध करता है कि नाटक इस पक्ष में भी अत्यन्त सबल है और नाटककार ने पुस्तक मे भी रागों के निर्देश यथास्थान दे दिये हैं। संवाद रचना में भी अल्पता पर विशेष ध्यान दिया गया हैं। इस प्रकार यह कृति उत्कृष्ट साहित्य तथा ललित भाषा के कारण जहाँ साहित्य में अभिनन्दनीय है वहीं मंचकी सफलता से भी पुष्ट है।

इधर नाट्य समीक्षकों ने वादों के साँचे मे कृतियों को नापने की प्रवृत्ति अपना ली है, वृत्ति के अनुसार समीक्षा पर कम ध्यान दिया गया है। यह यह अवैज्ञानिक पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण तथा त्याज्य है। आधुनिक समीक्षक बनने की धुन में मनोविज्ञान के कुछ घिसेपिटे शब्दों को पात्रों के घटनाक्रम में डालकर संपूर्ण कृतिका मूल्यांकन आज का नया दृष्टिकोण है। इसी को मूल मानकर डा० बच्चन सिंह ने यह फतवा दे दिया कि गीतनाट्य का मूलतत्व अन्तर्द्वन्द है और खोजबीनकर कुछ लेखकों से उन्होंने इसे ढूंढ भी निकाला और यह घोषणा कर दी कि यही गीतनाट्य है। ऐसे एकांगी और विवेकहीन निर्णय नाट्य समीक्षा में तनिक भी महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि नाट्यकी नई धारा वैज्ञानिक और प्रायोगिकताकी ओर तीव्र गति से उन्मुख है।

गीतनाट्य ही नहीं नाटकों की समीक्षा में भी विकास की गतिविधियों को लेना होगा। दीर्घकालीन परम्परा के फलस्वरूप जो छोटे बड़े तत्त्व इस धारा में आ मिले हैं और अपना स्थान बनाकर जो अब नाटक में अविभाज्य स्थान बना चुके हैं उनका मूल्यांकन भी सन्दर्भ में किया ही जाना चाहिए, और यही विकासमान समीक्षा का लक्षण हैं। यदि प्राचीन समीक्षा में प्रकाश व्यवस्था, मेकअप, ध्वनि आदि के संबंध में विचार नहीं किया गया तो इसे आज का समीक्षक अपनी ढाल नहीं बना सकता। उसे विकासक्रम में प्रेक्षा प्रवृत्तियों की सतत विकासमान उपलब्धियों के साथ ही किसी भी आधुनिक नाटक का मूल्यांकन करना होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है गीतनाव्यों के विकास की धारा में धीरे धीरे संगीत, चित्र, नृत्य, शिल्प तथा अन्यान्य कलाओंका समावेश होता गया है और आज जब हम गीतनाट्य का अध्ययन करते हैं तो हमें कृति के इन सभी पक्षों पर भी समान रूप से

विचार करना होगा क्योंकि अब गीति नाट्य के ये सब अविभाज्य अंग हो चुके हैं। पात्रोंको मनोवैज्ञानिक संस्थिति तथा अभिनय के अनेक लक्षण, भाषा, संवादों का गठन आदि शास्त्रीय पक्ष भी सन्निहित हैं। यदि कोई समीक्षक मात्र संवाद रचना के आधार पर ही संपूर्ण कृति की समीक्षा करता है तो उसका मूल्यांकन वैसा ही होगा जैसा आज हिन्दी विभागों में नाटक के चरित्रों मात्र के ही संबंध में प्रश्न पूछ कर होता होता है। यहाँ वहाँ से नाटक के संवादों का उद्धरण देकर और उनकी मीमाँसा करके किसी नाटकीय कृति के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हिन्दी के गीतनाट्यों के सम्बन्ध में एक अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि यदि थोड़ी बहुत कमियों को ध्यान में न रखकर एक विस्तृत दायरे में हिन्दी के गीतनाट्यों का अध्ययन करें तो हमें कुल तीन हस्ताक्षर ही मिलते हैं— पं० सीताराम चतुर्वेदी, श्री उदय शंकर भट्ट तथा श्री धर्मवीर भारती। श्री चतुर्वेदी ने पूर्ण गीतनाट्य तो एक ही दिया है बाकी छोटे रुपक ही हैं। श्री भट्ट के अनेक छोटे नाट्य उनके दो संग्रहों में आये हैं। श्री भारती ने अन्धायुग के बाद संभवतः एक नया गीत नाट्य भी दिया है।

इस लघु सामग्री के आधार पर हिन्दी गीत-नाट्यों पर विस्तृत रूप से विचार तो नहीं किया जा सकता, हाँ, इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि यहां प्रारम्भ भले ही अन्य देशों की अपेक्षा देर से हुआ है पर कृतियां निश्चय ही स्तरीय हैं।

गीतनाट्यों की कमी का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा गीतनाट्य लिखना अत्यन्त दुष्कार कार्य है। क्योंकि इसके लेखन में एक साथ ही अनेक कलाओं का पांडित्य होना अपेक्षित है। इस प्रकार इस क्षेत्र के लिये कुशल और बहुमुखी प्रतिभा आवश्यक है। मेरा आग्रह है कि केवल गीतमय संवाद लिखकर मात्र प्रचार करने के लिये गुटवन्दी करना साहित्यिक अनाचार है, ऐसे अनेक लोग उभर आये है जो गीतनाट्य का ढिढोरा पीटा करते हैं।

———

एक निवेदन

महामना मालवीय शिक्षा-संस्थान के संस्थापन-काल से ही संस्थापकों, संरक्षकों एवं परामर्श-दाताओं ने संकल्प किया था कि उचित समय आते ही हिंदी में एक उच्चस्तरीय शोध-पत्रिका का प्रकाशन किया जायगा, जिसमें ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में प्राचीन एवं अर्वाचीन शोधात्मक एवं वैज्ञानिक विवेचना से पूर्ण साहित्य-सामग्री का संचयन, संकलन, अभिलेखन सम्पादिन हो।

वर्त्तमान युग मतवादों-संप्रदायों के आग्रहों से अभिभूत होकर निष्कलुष सत्य के अन्वेषण एवं उपलब्धि से दूर होता जा रहा है। नित्य निरन्तर मूल्यों के परिवर्त्तन के इस युग में मानव-जीवन और संस्कृति का आस्थातन्तु ही तिरोहित हो चला है। इस विषम स्थिति का निरांकरण अत्यन्त आवश्यक है।

इन तमाम सन्दर्भों के बीच "ऋतम्भरा" का प्रकाशन किया जा रहा है। यह त्रैमासिक पत्रिका है। इसमें मनुष्य के अतीत, वर्त्तमान और भविष्य जीवन से सम्बन्धित धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक, भाषिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक शोधपूर्ण, निर्वाद, निष्पक्ष और सत्यान्वेषी निबन्धों का प्रकाशन अभीप्सित है ।

इस पुनीत कार्य में हम सबका और सभी तरह का हार्दिक सहयोग चाहते हैं। निबन्ध-लेखन, निर्देशन, अर्थ की सहायता, ग्राहक बनना और बनाना तथा इसका प्रचार एवं प्रसार आदि सभी कार्य, इस आवश्यक और सामयिक पुनीत 'ज्ञानयज्ञ' में आप महानुभावों की अमोघ आहुति स्वरूप होंगे।

हम आपके ज्ञान, कर्म और भाव सबको सहायता के अभ्यर्थी हैं। हमें, इसमें रंचमात्र भी वक्रोक्ति नहीं है, आप ही का बल-भरोसा है। देश आपका, जगत् आपका, सस्थान आपका, पत्रिका आपकी और हम भी आपके ही हैं।

—सम्पादक

आवश्यक सूचनाएँ

२२१८

१—ऋतम्भरा के लिए लेख, टिप्पणी, ग्रन्थसमीक्षा एवं अन्य सूचनाएँ हिन्दी भाषा में होनी चाहिएँ। अन्य भाषा में होने पर उसके अनुवाद का अधिकार-पत्र लेख आदि के साथ संलग्न रहना चाहिए।

२—निबन्ध शोधपूर्ण होना चाहिए। सन्दर्भ-सूची एवं अन्य आवश्यक टिप्पणियाँ भी साथ ही होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सभी पूछताछ एवं पत्र-व्यवहार सम्पादन के नाम से किए जाएँगे।

३—लेखों की पाण्डुलिपि कागज के एक ही तरफ लिखी होनी चाहिए और वह सुस्पष्ट तथा पूर्ण होनी चाहिए।

४.–लेखों की सन्दर्भ-सूचना में जिन पुस्तकादिका उल्लेख किया जाय उनका संस्करण और पृष्ठ आदि का स्पष्ट संकेत भी होना चाहिए।

५—सम्पादक-मण्डल को पत्रिका के लिए अनुपयोगी लेखों को अस्वीकृत करने और स्वीकृत लेखों को आवश्यकतानुसार सम्पादित करने का पूरा अधिकार होगा।

६—पत्रिका के लिए प्राप्त लेखों के सम्बन्ध में प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र भेजी जायगी और प्रकाशनार्थ स्वीकृति की सूचना दो महीने के अन्दर चली जायगी। यदि इसमें दो सप्ताह से अधिक की देर हो तो लेखक को चाहिए कि प्रबन्ध-सम्पादक को लिखकर इसकी जानकारी प्राप्त कर लें।

७—प्रत्येक लेखके लेखक को पत्रिका की उस अंक की एक प्रति के साथ जिसमें उसका लेख प्रकाशित होगा, अपने लेख की २० अधिमुद्रित प्रतियाँ निःशुल्क पाने का अधिकार होगा। यदि किसी लेखक को अपने लेखकी अधिक अधि-मुद्रित प्रतियों की आवश्यकता हो तो उसे चाहिए कि वह लेख के स्वीकृत हो जाने की सूचना पाने के दो सप्ताह के भीतर अपनी आवश्यकता प्रबन्ध-सम्पादक के पास लिख भेजें। २० से अधिक अधिमुद्रित प्रतियाँ मूल्य देने पर ही प्राप्त हो सकेंगी। टिप्पणियों और ग्रन्थ-समीक्षा-लेखकों को निःशुल्क केवल पत्रिका के अंक विशेष की एक प्रति मिलेगी; पूर्व सूचना बिना अधिमुद्रित प्रतियाँ नहीं मिलेंगी और जब मिलेंगी तब उनका मूल्य देना होगा।

८—जो ग्रन्थ समीक्षा के लिए भेजे जायँ उनकी दो प्रतियाँ प्रेषित करनी चाहिए।

९—समीक्षा उन्हीं ग्रन्थों की प्रकाशित की जायगी जो इस योग्य समझी जायँगे। पत्रिका में जिन ग्रन्थों की समीक्षा प्रकाशित होगी उनकी प्राप्ति-स्वीकृति मात्र प्रकाशित कर दी जायगी।